प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर

# शिक्षा के संबंध में परिप्रेक्ष्य पर्चा

## (चर्चा के लिए)

NIEPA DC
D05420

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) की समीक्षा समिति

नई दिल्ली

सितम्बर, 1990

Unit,
Education and

---

कृपया इस पर्चे पर अपनी प्रतिक्रियाएं अक्तूबर 10, 1'1919'1990 निम्नलिखित पते पर भेजें :

सदस्य-सचिव,
राष्ट्रीय शिक्षा नीति समीक्षा समिति,
शिक्षा विभाग,
मानव संसाधन विकास मंत्रालय,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110 001
(दूरभाष : 382926)

# विषय सूची


| | | पृ. सं. |
|---|---|---|
| अध्यक्ष की अपील | | i-iv |
| 1. | प्रस्तावना | 1 |
| 2. | परिवर्तन के बिंदु : कुछ नये फोकस | 7 |
| 3. | कुछ तौर-तरीके | 22 |
| परिशिष्ट | | |
| | राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 की मुख्य बातें | 41 |
| I. | राष्ट्रीय शिक्षा नीति समीक्षा समिति के अध्यक्ष और सदस्यों के नाम व पते | 47 |

# राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) की समीक्षा समिति

आचार्य राममूर्ति
अध्यक्ष

## आपसे मेरी अपील

जब 7 मई, 1990 को भारत सरकार ने 1986 को भारत सरकार की राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर नये सिरे से विचार करने के लिए एक समीक्षा समिति की घोषणा की तो कई लोगों के मन मे प्रश्न उठा कि अभी तो पांच वर्ष भी नहीं बीते हैं, फिर समय से पहले एक नयी कमेटी की क्यों जरूरत पड़ गयी?

यह प्रश्न उचित है। किन्तु जिन कारणों से प्रभावित होकर नयी सरकार ने समीक्षा समिति का गठन किया है वे विस्तार के साथ स्वयं सरकार के संकल्प में गिनाये गये हैं (संकल्प का यह अंश आगे 'प्रस्तावना' मे उद्धृत किया गया है)।

संक्षेप में, बुनियादी चिंताएं नीचे लिखी तीन हैं :

**एक,** काम का अधिकार, जिसे संविधान में लिखने का प्रस्ताव सरकार के सामने है,

**दो,** राष्ट्र की एकता और अखण्डता जो गंभीर खतरे में है, और

**तीन,** भारत के लोगों के दिलों में जो इंसान है वह सूखता जा रहा है।

ये चिंताएं नयी नहीं हैं, सिवाय काम के अधिकार के। किन्तु एक अंतर, बहुत बड़ा अंतर, पिछले कुछ समय में यह पड़ा है कि अनेक वर्षों से जो चिंताएं और समस्याएं यों ही पड़ी रहीं, और जिनका कोई हल नहीं निकल सका, उनके कारण एक अत्यंत विकट स्थिति पैदा हो गयी है। बेतहाशा बढ़ती बेरोज़गारी तथा जगह-जगह फूटती हिंसा जो जीवन पद्धति बनती जा रही है, इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्र का संकट कितना गहरा और सम्पूर्ण है। इसलिए 1985 में जो 'शिक्षा की चुनौती' थी, वह आज जीवन-मरण का प्रश्न बन गयी है—ऐसा प्रश्न जो राष्ट्र के अस्तित्व का है।

राष्ट्र के सम्पूर्ण संकट के साथ शिक्षा का अपना संकट जुड़ा हुआ है। किन्तु दुख की बात यह है कि जो शिक्षा आज देश में चल रही है उसमें वह सामर्थ्य और शक्ति ही नहीं रह गयी है जिससे वह खुद अपने अनेक आयामों के संकट का समाधान निकाल सके। यदि यह कहना सही हो, तो इसके कारण ढूंढना मुश्किल नहीं हैं। हमारी शिक्षा स्कूल या कालेज की चारदीवारी के भीतर बंद है। पुस्तकों और परीक्षाओं से बंधी हुई है। इतने पर भी न पुस्तकें पढ़ने लायक हैं, और न परीक्षाएं प्रामाणिक रह गयी हैं। इस शिक्षा ने हमारे विद्यार्थियों की उंगलियों में कोई उत्पादक हुनर नहीं भरा। इसने उन्हें उनके प्राकृतिक और सामाजिक माहौल से काटकर अलग कर दिया। वे अपने ही समाज में पराये हो गये। सबसे बुरी बात यह हुई कि उन्होंने जीवन में आस्था ही खो दी। उनके लिए जीवन का, सिवाय किसी तरह जीते रहने के, दूसरा कोई अर्थ नहीं रह गया। ऐसी शिक्षा राष्ट्र के पुनर्निर्माण का माध्यम कैसे बन सकती है? और, कैसे हमारे तरुणों और तरुणियों में कुछ कर गुज़रने की प्रेरणा भर सकती है?

अब हमें नयी शिक्षा चाहिए—पूर्ण रूप से नयी। हम जीवन के लिए शिक्षा चाहते हैं। हम सबके लिए शिक्षा चाहते हैं, कुछ थोड़े-से चुने हुए लोगों के लिए नहीं। यह मांग कोठारी आयोग ने आज से एक-चौथाई शताब्दी पहले उठाई थी। फिर 1986 में 'नयी शिक्षा नीति' ने यह मांग दुहराई। लेकिन आज तक मांग पूरी नहीं हुई। आखिर कब तक हम इसी तरह मांग दुहराते जायेंगे और एक पैबन्द यहां एक पैबन्द वहां लगाकर संतोष कर लेंगे?

परिस्थिति का तकाज़ा यह है कि शिक्षा सही अर्थ में, पूरे तौर पर जन-आंदोलन बन जाये। वह सरकार का, दफ़्तरों में बैठे कुछ लोगों की मर्जी से चलने वाला, एक विभागीय काम ही बन कर न रह जाये। और, न तो उसके संचालन के सूत्र उन लोगों के हाथों में रहें जो उन स्थानों से दूर, बहुत दूर रहते हैं, जहां जनता जीती और काम करती है। जब ऐसा होगा तभी शिक्षा जीवन के लिए अभ्यास और अनुशासन बन सकेगी। तभी शिक्षा मुक्तिदायिनी होगी। जीवन और श्रम से जुड़ी हुई शिक्षा 'काम के अधिकार' को वास्तविक और सार्थक बनायेगी। ऐसी शिक्षा में वह सामर्थ्य और शक्ति विकसित होगी जो हमारे अहंकारों, उन्मादों, पूर्वाग्रहों, तथा उन ताकतों के विरुद्ध, जो हमारे प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों तथा सामान्य जन के हितों का नाश कर देती हैं, युद्ध छेड़ सकेगी--कहीं दूसरी जगह नहीं, सीधे दिमाग में घुसकर लोहा ले सकेगी। यह विज्ञान और लोकतंत्र का युग है। किन्तु क्या विज्ञान और लोकतंत्र, सृजन करने वाली शिक्षा के बिना जो, हर व्यक्ति को जीवन-पर्यन्त मिल सके, जीवित रह सकेंगे? ऐसी गर्भ से मृत्यु तक की शिक्षा, नित्य नयी शिक्षा ही सच्ची शिक्षा होगी।

1986 की शिक्षा-नीति ने अपनी प्रस्तावना में लिखा है :

"इतिहास में ऐसे क्षण आते हैं जब युगों से चली आयी परिपाटी को नयी दिशा देनी पड़ती है।" बड़े महत्व की बात है यह! 1986 की नीति के निर्माताओं ने 1986 में उस क्षण को देखा, क्योंकि क्षितिज पर 21वीं शताब्दी की चुनौती थी। अब चार वर्ष बीत चुके हैं, और नयी शताब्दी के आने में केवल दस वर्ष शेष हैं। इसलिए ज़रूरत है कि मैकाले की बनायी परम्परा को हम हमेशा के लिए छोड़ दें, और नया शुभारम्भ करें। अगले दस वर्ष निर्णय करेंगे कि हम 21वीं शताब्दी की विविध चुनौतियों का किस तरह मुकाबला कर सकेंगे।

इस परिप्रेक्ष्य पर्चे को हम पूरी विनम्रता के साथ आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। हमारी समिति ने शिक्षा की समस्याओं को गहराई से परखने की कोशिश की है। हमने जो समझा है, सोचा है, वह इन पन्नों में लिखा हुआ है। हमने शिक्षा को एक समग्र प्रक्रिया के रूप में देखा है जिसे

नहीं, समग्र ही करना होगा। हमने भारत की प्राचीन परम्परा को समझने का प्रयत्न किया है, हमने शिक्षा में इस देश में तथा विदेशों में हुए अनुभवों एवं प्रयोगों और उनके परिणामों को परखा है। हमने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गांधी तथा अन्य महान व्यक्तियों के शिक्षा-संबंधी विचारों से प्रकाश प्राप्त किया है। इस सारे प्रयत्न को हम सार्थक मानेंगे यदि आप समय निकालकर इन पन्नों को पढ़ जायें, इसमें जो कुछ लिखा है उसका बारीकी से छानबीन करें, और तब हमें बतायें कि क्या सही है, क्या गलत। आप क्या जोड़ना चाहेंगे, क्या घटाना। आपके विचारों के प्रकाश में हम अपनी रिपोर्ट को अंतिम रूप देंगे। हमारे मन में तनिक भी संदेह नहीं है कि अगर हम सब लोग—शिक्षक, प्रशासक, विद्यार्थी, अभिभावक तथा अन्य—मिलकर सोचेंगे तो हम अवश्य ढूंढ लेंगे कि सही दिशा क्या है, और शुरू के सही कदम क्या होंगे। भविष्य उनका है जो साहस करते हैं, और आगे बढ़ जाते हैं।

हस्ता./-
(राममूर्ति)

नई दिल्ली,
सितम्बर 6, 1990

(यह पर्चा केवल चर्चा के लिए है)

# प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर

## (शिक्षा के संबंध में परिप्रेक्ष्य पत्र)

I

### प्रस्तावना

सन् 1985 में 'शिक्षा की चुनौती' नामक सार्वजनिक दस्तावेज़ की जारी करने से और बाद में नई शिक्षा नीति की घोषणा के साथ जनता की अपेक्षाएं काफी बढ़ गई थी। एक लोकतंत्रीय समाज में शिक्षा देने की पद्धति और इसको ढालने वाली नीतियों की जनता का समर्थन मिलना ज़रूरी है। ऐसा समर्थन तभी सुनिश्चित हो सकता है जब लोग यह समझें कि शिक्षा उनको कई मायनों में ठोस रूप से लाभ पहुचाएगी। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 और इसके क्रियान्वयन को जनहित की दृष्टि से परखने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इस समीक्षा समिति का गठन किया। समिति गठित किए जाने वाले संकल्प का निम्नलिखित उद्धरण सरकार की विशिष्ट चिंताओं को व्यक्त करता है :

> स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से सामाजिक और आर्थिक विकास की दिशा में किए गए प्रयासों के बावजूद हमारे देश के अधिकांश लोग अभी भी शिक्षा, जो मानव विकास की बुनियादी आवश्यकताओं में से एक है, से वंचित हैं। यह भी अत्यन्त क्षोभ की बात है कि विश्व के निरक्षरों में से 50 प्रतिशत हमारे देश में हैं, और एक बहुत बड़ी संख्या में बच्चे प्राथमिक शिक्षा के स्वीकार्य स्तर से वंचित रह जाते हैं। सरकार शिक्षा को सर्वोपरि प्राथमिकता देती है—एक मानव अधिकार के रूप में तथा अधिक मानवीय और प्रबुद्ध समाज की ओर अग्रसर होने के एक साधन के रूप में। यह जरूरी है कि शिक्षा को महिलाओं तथा पिछड़े

वर्ग के लोगों और अल्पसंख्यकों को समानता का हक प्राप्त कराने का एक प्रभावी साधन बनाया जाए। इसके अतिरिक्त शिक्षा को कार्य तथा रोज़गार-उन्मुख बनाया जाना आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि जो अभिजात्य विकृति हमारी शिक्षा के परिवेश की एक विशेषता बन गई है, उससे शिक्षा को मुक्त किया जाए। शैक्षिक संस्थाएं जातिवाद, सांप्रदायिकता तथा रूढ़िवाद से अधिकाधिक प्रभावित होती जा रही हैं। इसके विरुद्ध संघर्ष करने पर बल देना और सही समतावादी तथा धर्मनिरपेक्ष सामाजिक व्यवस्था की ओर बढ़ना आवश्यक है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 का पुनरावलोकन किया जाना आवश्यक है ताकि ऐसा ढांचा तैयार हो पाए, जिससे देश शिक्षा के इस परिप्रेक्ष्य की ओर बढ़ सके।'

2. भारत के बहुत से लोगों के लिए अस्तित्व की लड़ाई शैक्षिक आवश्यकताओं से कहीं अधिक प्राथमिकता रखती है। इसलिए शिक्षा और इसके नियोजन को व्यापक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक संदर्भ के साथ जीवन्त रूप से जोड़ना होगा। विशिष्ट रूप से शिक्षा को विकास के गतिशील मुद्दों के साथ जोड़ा जाना चाहिए। केवल ऐसी स्थिति में ही शिक्षा उत्प्रेरक और हस्तक्षेप करने वाली भूमिका निभा सकेगी— केवल तभी।

3. 6 से 14 आयु-समूह के बच्चों में से लगभग आधे या तो स्कूल में प्रवेश ही नहीं लेते या प्रारंभिक स्तर पर ही छोड़ देते है। हाल ही के एक राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण के अनुसार इनमें से एक-तिहाई से आधे बच्चों तक के लिए स्कूल उबाऊ, अप्रासंगिक और भयावह (अर्थात्, परीक्षाओं में असफलता) है। लगभग 40 से 45% अन्य बच्चों को गंभीर आर्थिक मजबूरियों एवं घरेलू व पारिवारिक जीवन की ज़रूरतों के कारण स्कूल से दूर रहना पड़ता है। केवल लगभग 5% बच्चे उच्चतर माध्यमिक स्तर तक पहुंच पाते हैं और इससे भी कम उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। अपनी सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि और घटिया दर्जे की स्कूली शिक्षा के कारण सुविधाओं से वंचित तबकों में से नगण्य संख्या में विद्यार्थी देश की उत्कृष्ट व्यावसायिक संस्थाओं (मेडिकल, इंजीनियरिंग, प्रबंध आदि में) प्रवेश ले पाते हैं। इन उत्कृष्ट संस्थाओं में जाने वालों की योग्यता का स्तर संभवतः

बेहतर हो सकता था यदि शिक्षा का सामाजिक आधार और अधिक व्यापक होता। शिक्षा को जीवन के साथ जोड़ने के प्रयासों से कोई खास सफलता नहीं मिली है और सभी बच्चों को स्कूल की ओर आकर्षित करने और उन्हें वहां बनाए रखने का हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हो सका है।

4. स्कूली पाठ्यक्रम जड़ और गतिहीन रहे हैं एवं इनमें शिक्षा की नई पद्धतियों और नवाचारों को अपनाने की क्षमता की कमी रही है। स्कूली बस्ते का बोझ भी सर्वत्र चिंता का विषय रहा है।

5. ऐसा नहीं है कि हमने शिक्षा के क्षेत्र में नवाचार नहीं किए हैं या पहल नहीं की है। आज हम कामकाजी बच्चों के लिए उनकी सुविधानुसार स्कूली समय को बदलने और घटाने-बढ़ाने की बात करते हैं एवं साठ के दशक में राजस्थान में 'पहर पाठशाला' का अनुभव हमारे सामने है। ऐसा लगता नहीं है कि अपने शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों को बनाने के लिए हमने पठन-पाठन के सिद्धांतों को समृद्ध करने वाले अपने देश के शैक्षिक प्रयोगों से कुछ सीखा है। शिक्षा को ग्रामीण विकास से जोड़ने के रवीन्द्रनाथ ठाकुर के श्रीनिकेतन के प्रयोग और शिक्षक प्रशिक्षण के संबंध में गुजरात के गिजुभाई बधेका के अनुभव इसके दो उदाहरण हैं।

6. कुल मिलाकर हम अपनी शिक्षा प्रणाली में सैकड़ों वर्षों के अनुभवों से प्राप्त पारंपरिक ज्ञान और समझदारी के समृद्ध खजाने को अनदेखा कर रहे हैं। ऐसा पारंपरिक ज्ञान या समझदारी खेती, भू-प्रबंध, जल संसाधनों का भौगोलिक दृष्टि से नियोजन, वन-विज्ञान, पारिस्थितिकी संतुलन, भवन निर्माण, चिकित्सा, कुटीर उद्योग आदि ऐसे विविध क्षेत्रों में उपलब्ध है। इन्हें शिक्षा की विषय-वस्तु और प्रक्रिया से जोड़ा जाना चाहिए।

7. यह जरूरी नहीं है कि प्रौढ़ों के मामले में पढ़ने और लिखने की असमर्थता का अर्थ उनमें शिक्षा की कमी ही हो। एक निरक्षर व्यक्ति में भी जीवन की परिस्थितियों के लिए आवश्यक गणितीय कौशल हो सकता है और अत्यंत विकट हालातों से जूझने के लिए उच्च कोटि की संवेदनशीलता और क्षमता भी हो सकती है। उनमें घर और बाहर के

काम के लिए आवश्यक व्यावसायिक कौशल, स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों एवं पर्यावरण की विस्तृत जानकारी और सामाजिक ढांचे व ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपराओं की समझ भी हो सकती है। इसलिए प्रौढ़ साक्षरता को शिक्षा का पर्याय मानकर उस पर बल देने की कोशिश उचित नहीं होगी। साफ बात तो यह है कि निरक्षर व्यक्ति ज़रूरी नहीं कि अशिक्षित व्यक्ति हो। यहां हमारा उद्देश्य निरक्षरता को रूमानियत में रंगना नहीं है, बल्कि प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के सार्थक ढंग से पुनर्निर्माण की ज़रूरत को रेखांकित करना है। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि इस दशक में सब बच्चे स्कूली शिक्षा पा जाए ताकि वे बड़े होकर अगली सदी में निरक्षरों की संख्या न बढ़ाएं।

8. जबकि उच्च शिक्षा के स्तर पर गिनाने के लिए हमारे पास अनेक उपलब्धियां हैं पर 14 वर्ष की आयु तक के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा देने का संवैधानिक आदेश मृग मरीचिका बनकर खटक रहा है। और यह स्थिति इसके बावजूद है कि प्राथमिक शालाओं की संख्या में इतना भारी प्रसार हुआ है कि अब हर बच्चे के घर से एक किलोमीटर दूरी के अंदर प्राथमिक शाला उपलब्ध हो गई है। शिक्षा के घटिया दर्जे की बात छोड़ भी दें, तो भी आज शिक्षा के पिरामिड का आधार ठोस और मज़बूत नहीं है। दरअसल, शिक्षा का पिरामिड अपने सिर के बल बमुश्किल टिका हुआ है। पिछली सात पंचवर्षीय योजनाओं में प्रारंभिक शिक्षा के लिए आबंटनों के निरंतर घटते हुए अनुपात के कारण यह संरचनात्मक असंतुलन और भी बिगड़ गया है। (हाल के वर्षों में राज्यों/संघ शासित क्षेत्रों में प्रारंभिक शिक्षा के लिए योजनागत और योजनेतर आबंटन का अनुपात स्थिर रहा है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद के प्रतिशत के रूप में शिक्षा के इस क्षेत्र का हिस्सा 1985-86 के बाद कम हो गया है।) औपचारिकेतर शिक्षा और प्रौढ़ साक्षरता के माध्यम से एक पूरक ढांचा खड़ा करने के प्रयासों से भी इस असंतुलन को दूर करने में मदद नहीं मिली है, हालांकि इन कार्यक्रमों में काफी बड़ी राशि खर्च हुई है।

9. असली चुनौती तो यह है कि समान स्कूल प्रणाली विकसित करके सबके लिए तुलनात्मक रूप से समान स्तर की शिक्षा उपलब्ध एवं सुनिश्चित की जाये। चुनौती यह भी है कि वर्षों से शिक्षा प्रणाली में व्याप्त अभिजात्य

विकृतियों को पहचान कर दूर किया जाये एवं शिक्षा प्रणाली को प्रभावशील बनाने में जनता की घटती हुई भागीदारी को दुरुस्त किया जाये। क्या हम "वर्तमान स्थिति में पैबन्द लगाने और लड़खड़ाते कदमो एवं विश्वास की कमी के साथ आगे बढ़ने" को रोकने के लिए प्रतिबद्ध हैं। क्या हम इस बात के लिए तैयार हैं कि "भारतीय शिक्षा में आमूल-चूल पुनर्निर्माण की आवश्यकता है, लगभग क्रांति की?" (शिक्षा आयोग की रिपोर्ट 1964-66 में डा. डी.एस.कोठारी के प्राक्कथन से उद्धृत)

10. उच्च एवं तकनीकी शिक्षा मे सुधार संबधी अनेक नीति-परक वक्तव्यो के बावजूद इस स्तर की अधिकाश संस्थायें उनसे की जाने वाली अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकी हैं। इसके साथ ही ऐसे निम्नस्तरीय कालेज कुकुरमुत्तों की तरह उग आये हैं जिनका शैक्षिक या सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से कोई खास अर्थ नहीं है।

11. आमतौर पर ग्रामीण क्षेत्र, और खासतौर पर आदिवासी क्षेत्र, कार्मिक एवं बुनियादी सुविधाओं के अभाव से ग्रस्त रहे हैं। शिक्षा एवं विकास में क्षेत्रीय असमानताओं का यह लक्षण भारतीय परिदृश्य में एक महती राजनैतिक आयाम बनकर उभरा है। इसकी झलक क्षेत्रीय एवं अंतरक्षेत्रीय आंदोलनों में देखी जा सकती है। (प्रसंगवश, यह उल्लेखनीय है कि शिक्षा को संविधान की समवर्ती सूची में लाने का घोषित उद्देश्य शैक्षिक असमानताओं को कम-से-कम करना था।)

12. यह चिन्ता का विषय है कि केन्द्रीय और राज्य/संघ शासित सरकारों में दोनों ही स्तरों पर शिक्षा सहित सभी क्षेत्रों में पहल, निर्णय एवं नियोजन की प्रक्रिया को केन्द्रीकृत करने और नौकरशाही से जकड़ लेने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि शैक्षिक नियोजन एवं विकास में शिक्षक एवं समाज की भूमिका लगातार कटती जा रही है। जबकि यह मान लिया गया है कि शिक्षा के संविधान की समवर्ती सूची में होने के संदर्भ में केन्द्र की भूमिका का महत्व विशेष रूप से बढ़ गया है, परन्तु यह भी व्यापक रूप से समझा जा रहा है कि अब वह समय आ गया है जब हमें इस केन्द्रीय भूमिका को संतुलित ढंग से सीमित एवं दोबारा परिभाषित करना होगा।

13. राष्ट्रीय शिक्षा नीति में शिक्षा को वर्तमान एवं भविष्य के लिए निवेश के रूप में माना गया, परन्तु इस समझ की कोई भी झलक योजनागत आबंटनों में नहीं दिखती है। दरअसल, शिक्षा को 'समाज सेवा' का विषय मानकर पीछे धकेल दिया गया है और ऐसा प्रतीत नहीं होता कि इसे राष्ट्रीय विकास की लक्ष्य-प्राप्ति के लिए एक महत्वपूर्ण औजार के रूप में देखा गया हो। 7वीं पचवर्षीय योजना के शिक्षा बजट के प्रतिशत में वृद्धि कर पाने में और 8वीं पचवर्षीय योजना में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का कम-से-कम 6% शिक्षा को देने का वायदा पूरा कर पाने में सरकार की असमर्थता इस बात का प्रमाण है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद की प्रतिशत की दृष्टि से विश्व के देशो में शिक्षा पर निवेश के सदर्भ में भारत का 115वां स्थान हैं। निःसंदेह उस सामज के लिए जो अतीतकाल से ज्ञान को मुक्ति का साधन (सा : विद्या या विमुक्तये) मानता रहा है, यह तथ्य वास्तव में एक विचित्र विडम्बना है।

## II

## परिवर्तन के बिन्दु : कुछ नये फोकस

समीक्षा समिति में इस बात पर आम सहमति हो गई है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में किस प्रकार का संशोधन होना चाहिए और किन मुद्दो पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करने की ज़रूरत है। ये हैं

i) शिक्षा को समेकित और समग्र रूप में देखा जाना चाहिए। यह साफ है कि शिक्षा को औपचारिक-औपचारिकेतर, अकादमिक-रोजगारोन्मुख, तकनीकी-गैर-तकनीकी आदि के रूप में विभाजित करना अनुचित होगा, क्योंकि इससे शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने के प्रयासो में बाधा पड़ती है।

ii) शैक्षिक विकास की योजना में इन्सान को 'परिसम्पत्ति' या 'राष्ट्रीय संसाधन' मात्र मानना उचित नहीं होगा क्योंकि यह दृष्टिकोण उपयोगितावादी होगा। इन्सान को परिसम्पत्ति मात्र से कहीं अधिक महत्वपूर्ण मानकर विकसित करना होगा जिसके लिये शिक्षा में मानवीय, उदारवादी, सामाजिक, सांस्कृतिक, और आध्यात्मिक आयामो को भी जोड़ना होगा।

iii) लोकव्यापीकरण के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये स्कूल–शैक्षिक पिरामिड का आधार–मुख्य साधन होना चाहिए। स्कूल को सभी आवश्यक संसाधन, वित्तीय और बौद्धिक दोनो, उपलब्ध कराने होगे, ताकि स्कूल उन सब बच्चो तक पहुंच सके जो स्कूल के बाहर हैं, जिनमें दो-तिहाई लड़कियां हैं। स्कूल को अपनी चारदीवारी से बाहर

निकलना होगा और सृजनात्मक तरीकों को अपनाकर औपचारिकेतर बनना होगा। यह एक बेहतर व्यवस्था होगी बनिस्बत इसके कि गरीब और कामकाजी बच्चों के लिये औपचारिकेतर शिक्षा की एक पूर्णतः समानान्तर प्रणाली खड़ी कर दी जाये। बीच में ही स्कूल छोड़ देने वाले या स्कूल से पूर्णतः वंचित रह जाने वाले बच्चों— जैसे कामकाजी बच्चों, स्कूल तक न पहुँच पाने वाली लड़कियों और ऐसी बस्तियों या सामाजिक परिवेश में रहने वाले बच्चों, जहां स्कूल खोले ही नहीं जा सके—की विशिष्ट जरूरतों के अनुकूल ऐसी औपचारिकेतर शिक्षा काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है, जो सही मायनों में सृजनात्मक हो। ऐसी परिस्थितियों में औपचारिकेतर शिक्षा संक्रमण काल में एक सहायक भूमिका और, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण, एक ऐसी चुनौतीपूर्ण भूमिका निभाती रह सकती है जिससे कि स्कूल पर अपनी चारदीवारी से बाहर निकलने और औपचारिकेतर बनने के लिये लगातार दबाव बना रहे।

iv) शिशु देख-भाल और शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के नियोजन का अभिन्न अंग बनाने की ज़रूरत है।

v) प्रौढ़ शिक्षा की विषय-वस्तु और प्रक्रिया को प्रौढ़ साक्षरता से अलग मानते हुए नए सिरे से पुनर्गठित करने की आवश्यकता है। अस्तित्व, विकास और न्याय के प्रश्न को प्रौढ़ की पाठ्यसामग्री, शिक्षण-पद्धति एवं अध्ययन परिस्थितियों के ताने-बाने में बुनना होगा, और इस प्रक्रिया में जब प्रौढ़ सहभागी साक्षरता की ज़रूरत अपने अंदर से महसूस करें तब साक्षरता को जोड़ देना चाहिए। इस समझ से साक्षरता अभियानों को अतिरंजित महत्व देने से बचने में मदद मिलेगी। दरअसल, इन अभियानों का एक प्रमुख उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि निरक्षर प्रौढ़ों को प्रेरित किया जाए कि वे अपने बच्चों को स्कूलों में

पढ़ने के लिए भेजें। प्रौढ़ शिक्षा के अन्य उद्देश्यों में लोकतंत्र एवं पंचायती राज के लिए शिक्षा और जातिवाद, साम्प्रदायिकता, लिंग-भेद और अन्य सभी प्रकार के भेद-भावों से दूर रहने की शिक्षा शामिल होनी चाहिए।

vi) भारतीय संदर्भ में सब बच्चों के लिए न्यायसंगत अवसर देने का सिद्धांत शैक्षिक विकास की दृष्टि से एक बेहतर सिद्धांत है बजाए इसके कि कुछ बच्चों में प्रतिभा पालने-पोसने के लिए उन्हें अलग स्कूलों में रख दिया जाए। इससे एक समतामूलक सामाजिक व्यवस्था की ओर बढ़ने और साथ ही देश की उत्कृष्टता की पूरी संभावनाओं को उजागर करने में भी मदद मिलेगी क्योंकि इससे शिक्षा का सामाजिक और जातीय आधार व्यापक हो जाएगा। दरअसल, आमतौर पर शिक्षक प्रतिभाशाली बच्चों को स्वयं पहचान लेता है और उनके प्रति ध्यान देता है। अतः सही रास्ता तो यह होगा कि शिक्षकों को विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाये कि वे प्रतिभाशाली बच्चों को अन्य बच्चों से बिना अलग-थलग किए और अधिक गति से आगे बढ़ने में मदद दे सकें। इसके लिए उन्हें समूह-आधारित या हमउम्र शिक्षण की प्रक्रियाओं में शामिल किया जा सकता है ताकि गैर-प्रतियोगी माहौल को प्रोत्साहन मिले। इस दृष्टि से नवोदय विद्यालयों को और अधिक प्रोत्साहन देना न्यायोचित नहीं होगा।

vii) 'सामाजिक जुड़ाव एवं राष्ट्रीय एकजुटता' को मजबूती प्रदान करने के उद्देश्य से 10 वर्षीय समयचक्र में एक सार्वजनिक स्कूल प्रणाली विकसित करनी होगी। इसके लिए समझाने-बुझाने और ज़रूरत पड़ने पर कानून पारित करने का तरीका भी इस्तेमाल करना होगा। पहले कदम के रूप में सरकारी, स्थानीय निकायों एवं सहायता-प्राप्त स्कूलों की गुणवत्ता को सुधारना होगा ताकि ये सच्चे मायनों में 'पड़ोसी स्कूल' बन सकें। इस प्रश्न को कि

सार्वजनिक स्कूल प्रणाली धीरे-धीरे फैलकर निजी स्कूलों को भी शामिल करे या नहीं, और यदि करे तो किस प्रकार, जांचने की ज़रूरत होगी।

viii) महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा को पुनर्गठित करना होगा, जिसके लियेः

(क) सभी लड़कियों की स्कूली शिक्षा में भागीदारी सफल बनाने एवं उनके द्वारा स्कूल छोड़ देने की दर को कम करने के लिये आवश्यक परिस्थितियों को बनाना होगा। इसके लिये आवश्यक है कि शिशु देखभाल एवं शिक्षा का एक कारगर कार्यक्रम भारत की हरेक प्राथमिक शाला के साथ जोड़ दिया जाये। साथ-साथ बस्तियों के अदर सहायक सेवाओं का एक जाल फैलाना होगा जो पीने का पानी, ईंधन, चारा एवं स्वास्थ्य की देखभाल के लिये सुविधाओं को सुनिश्चित कर सके, एवं

(ख) शिक्षा के ढांचे, विषयवस्तु एवं प्रक्रिया में से लिंगभेद एवं लिंग-आधारित छवि के प्रभावों को निकालने के लिये विशेष प्रयास ज़रूरी होगा। इसके लिये आवश्यक है कि सामाजिक संरचना को ध्यान में रखा जाये जिसके कारण आज तक महिलाओं को समर्थ बनने से रोका गया है।

ix) क्षेत्रीय असमानता की समस्या का सामना करना होगा जिसके लिये शैक्षिक एवं सामाजिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों को अतिरिक्त वित्तीय एवं बौद्धिक ससाधन देने होंगे। तभी यह सभव होगा कि सदियों से वंचित रखे गये ऐसे क्षेत्रों, जहां अधिकांशतः अनुसूचित जातियों व जनजातियों, अन्य पिछड़ी हुई जातियों एवं अल्पसंख्यक समुदायों के लोग बसते हैं, उनकी भरपाई हो पायेगी। इस संदर्भ में

महिलाओं के प्रश्न पर विशेष ध्यान देना होगा। इसके लिये यह भी ज़रूरी है कि नियोजन एवं क्रियान्वयन को क्षेत्र विशेष और विविधतापूर्ण दृष्टियों के अनुसार विकेन्द्रित करना होगा और उसी से यह तय किया जा सकेगा कि क्या किया जाये और कैसे किया जाये।

x) बच्चे को अपनी अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक पहचान को मज़बूत करने एवं उसके सीखने की प्रक्रिया को सुलभ बनाने के लिए कम-से-कम शुरू के स्तरों में मातृभाषा को एक साधन के रूप में सुनिश्चित करना होगा। यदि मातृभाषा राज्य की क्षेत्रीय भाषा से अलग हुई तो प्राथमिक शिक्षा के एक खास उचित स्तर पर क्षेत्रीय भाषा को माध्यम बनाने का प्रावधान करना ज़रूरी होगा। उच्च शिक्षा के स्तर पर शिक्षा का माध्यम ऐसा होना चाहिए कि वह उच्च शिक्षा की संस्थाओं से देश भर के शिक्षकों और विद्यार्थियों की जुड़ने की प्रक्रिया में बाधक न बने।

xi) भारत की क्षेत्रीय भाषाओं के बीच में आदान-प्रदान का मार्ग प्रशस्त किया जाए। यह इसलिए ज़रूरी है कि आम लोगों के बीच में मिलना-जुलना और देश के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में जाना सुलभ हो जाए, न कि यह संभावना केवल उनके लिए ही खुली हो जिनकी पहुच अंग्रेजी तक है, ताकि सामाजिक जुड़ाव एवं राष्ट्रीय एकजुटता की प्रक्रिया को मज़बूती मिले।

xii) लोगों को काम के लिए समर्थ बनाने के उद्देश्य से शिक्षा के हर स्तर पर सभी विद्यार्थियों के लिए सामाजिक दृष्टि से उपयोगी व उत्पादक कार्य को उनके सीखने, उनमें सूझ-बूझ और समस्या-निदान का कौशल विकसित करने और उनकी सृजनात्मकता बढ़ाने का प्रभावशाली माध्यम बनाना होगा। इसका लक्ष्य है कि सामाजिक दृष्टि से

उपयोगी व उत्पादक कार्य एक रस्मो-रिवाज बनकर न रह जाए जैसा कि अक्सर होता रहा है। इस लक्ष्य की प्राप्ति एवं माध्यमिक और उच्च शिक्षा के स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता में हर दृष्टि से सुधार लाने के लिए ज़रूरी है कि हम निम्नलिखित बिंदुओं पर ध्यान केन्द्रित करें:

(क) ऐसी शिक्षा का निर्माण करने के लिए जो विद्यार्थियों को उनके परिवारों, बस्तियों और जीवन से अलग-थलग न कर दे यह आवश्यक है कि 'हाथ', 'दिमाग' एवं 'दिल' को एक सूत्र में पिरो दिया जाए।

(ख) माध्यमिक शिक्षा (कक्षा 9वीं से 12वीं तक) के स्तर पर सभी विद्यार्थियों की शिक्षा का व्यावसायीकरण किया जाए, यानि उसे रोज़गार-उन्मुख बनाया जाए। इसके लिए पाठ्यक्रम में व्यावसायिक पहलू को अभिन्न रूप में जोड़ना होगा और साथ में, जो विद्यार्थी नौकरी या स्वरोज़गार की तलाश में हैं उनके लिए व्यवसाय-संबंधी (रोज़गार-संबंधी) अतिरिक्त अवयवों का प्रावधान करना होगा।

(ग) 'स्कूल की दुनिया' एवं 'काम की दुनिया' के बीच व्यावहारिक रिश्ता स्थापित करना होगा जिसके लिये व्यावसायीकरण की दृष्टि से 'काम की दुनिया' में कार्य-पीठ (वर्क-बैंच) और अभ्यास शाला (प्रैक्टिस स्कूल) जैसी व्यवस्थाओं को शिक्षा का अंग बनाना होगा।

(घ) पूरे स्कूली तंत्र को इस प्रकार से खोल दिया जाये कि जो विद्यार्थी 'काम की दुनिया' में प्रवेश करना चाहते हैं और बाद में फिर आगे शिक्षा के लिये

या अपनी कुशलताओं का विकास करने के लिये वापस लौटना चाहते हैं, उनके लिये बहुलक्ष्यीय प्रवेश और बहु-लक्ष्यीय निर्गम का प्रावधान हो।

(च) विद्यार्थियों को उनकी अभिरुचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार पाठ्य-शृंखला के चयन में अधिकतम लोच देने की दृष्टि से प्रमापी (मॉड्यूलर) पाठ्य-शृंखलाओं और इकाई संचयन (क्रेडिट एक्यूमुलेशन) की व्यवस्था शुरू करनी होगी।

(छ) एक निर्धारित समय-सीमा में प्राथमिक से उच्च शिक्षा के स्तर तक वार्षिक सार्वजनिक परीक्षाओं के बदले समग्र एवं अनवरत आंतरिक मूल्यांकन की व्यवस्था को विकसित करने के लिये प्रतिबद्ध होना पड़ेगा। इस नई व्यवस्था का उद्देश्य सीखने एवं पढ़ाई के बीच में सुधार करने की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना है। शिक्षा के हर अगले स्तर में भर्ती का आधार प्रवेश परीक्षायें होनी चाहियें।

(ज) रोज़गार या नियोजक एजेंसियों को अपनी-अपनी परीक्षण प्रणालियों का निर्माण करने की छूट देनी होगी ताकि उपाधियों का नौकरियों से संबंध तोड़ा जा सके। इसके लिए ज़रूरी है कि सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्र की भर्ती-नीति में भी परिवर्तन लाया जाये।

xiii) उच्च एवं तकनीकी शिक्षा की गुणवत्ता में सही अर्थों में सुधार करना आवश्यक हो गया है जिससे कि ये न केवल हमारे आज के समाज के लिये सार्थक बनें, बल्कि उस समाज के लिये भी जो कल बनाना है। यह इसलिए भी

जरूरी है कि यह शिक्षा प्रतियोगी उद्योगों, प्रौद्योगिकी के देशीकरण एवं विकसित विज्ञान व प्रौद्योगिकी (उनके लिए उपयोगी शोध व विकास कार्यक्रम समेत) की आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

xiv) कालेज और विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम एवं शैक्षिक प्रक्रिया को आचलिक विकास के मुद्दों और स्कूली शिक्षा के सुधार के साथ गतिशील एवं घनिष्ठ रूप से संबद्ध किया जाये। इसका उद्देश्य यह है कि इन सार्वजनिक रूप से वित्तपोषित संस्थाओं से की जाने वाली क्षेत्रीय अपेक्षाओं और शिक्षा व शोध में उनके सार्वभौमिक लक्ष्यों के बीच संतुलन लाया जा सके। इस प्रयास और विश्वविद्यालय के विस्तार कार्य के बीच भेद करना जरूरी है। इसका अर्थ है कि कालेजो और विश्वविद्यालय परिसरों में शैक्षिक जीवन का पुनगर्ठन करना होगा जिससे शिक्षक समूह व विद्यार्थियों को एक ताजी दिशा मिलेगी। अंततः विकास में यह भागीदारी कालेजों और विश्वविद्यालयों को विकास के नियोजन में मार्गदर्शन देने एवं लोगों की पहल में मददगार होने के लिए समर्थ बनायेगी। तभी हमारे परिसरों में सामाजिक प्रासंगिकता की भावना के साथ-साथ एक नये जीवन का संचार होगा।

xv) हालांकि उच्च शिक्षा के क्षेत्र मे अनेक सस्थान हैं और विभिन्न विश्वविद्यालयो मे शोध कार्य चल रहे हैं, तब भी समाज विज्ञान के क्षेत्र में शोध इस स्तर पर प्रायः गतिरोध और हिचकिचाहट से भरा रहा हैं, क्योंकि इसके लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता उपलब्ध नहीं की जा सकी। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की संस्थाओं एवं शिक्षा के आधुनिकीकरण को दिए जा रहे महत्व के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि उच्च शिक्षा के स्तर पर समाज विज्ञान के शोध मे व्यवस्थित रूप से क्रमिक विकास को बढ़ावा दिया जाए। समाज विज्ञान का क्षेत्र विकसित करने से

नई विचार प्रक्रियाओ एव सृजनात्मक चिंतन को प्रोत्साहन मिलता है। इसके कारण विकास के स्वरूप तथा दिशा के अध्ययन में सहायता मिलती है जो कि नई नीतियों की खोज में आवश्यक चिंतन के नए दायरे बनाने के लिए महत्वपूर्ण है। इसके अलावा हमारे पौराणिक ग्रथों के अध्ययन तथा उनमें शोध की आवश्यकता, न केवल उनकी साहित्यिक प्रसिद्धि के कारण अपितु उनमें अतर्निहित मूल्यो तथा परंपराओं के प्रसार के लिए भी है।

xvi) हर स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय की विशिष्ट सामाजिक एव सास्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार विषय-वस्तु और अध्यापन में विविधता हेतु पूरी छूट दी जाए। यहा, राष्ट्रीय कोर पाठ्यक्रम के साथ-साथ सकीर्णता, आत्म-केन्द्रता, रूढ़िवादिता व सामाजिक बिखराव से मुक्ति एवं राष्ट्रीय जीवन में से जातिवाद व साम्प्रदायिकता के उन्मूलन के उद्देश्य को भी ध्यान में रखना होगा।

xvii) हाल ही में मूलभूत नैतिक मूल्यों में व्यापक गिरावट देखी गई है। जब हम अपनी महान सभ्यता और विरासत की ओर देखते हैं तो इस प्रवृत्ति का भारत के लिए एक विशेष मर्मस्पर्शी अर्थ हो जाता है। हमारी शिक्षण संस्थाएं जो मूल्यों में इस व्यापक गिरावट के स्पष्ट असर से अछूती नहीं है, उनकी इस परिस्थिति के प्रति गहरे सरोकार, सूझ-बूझ के साथ कुछ करने की विशेष जिम्मेदारी है, ताकि वे मूल्यों की शिक्षा मे एक प्रबल भूमिका निभा सकें। यह काम नैतिकता पर विशेष कक्षाए लगाकर, भाषण सुनाकर या तोता-रटन्त पद्धति से पाठ्य-पुस्तको का मशीनी अध्ययन करके नहीं किया जा सकता। दरअसल, मूल्यों की शिक्षा पूरी शिक्षण प्रक्रिया एवं स्कूली माहौल के एक अभिन्न अग के रूप मे विकसित होनी चाहिए। लोकतत्र, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद, वैज्ञानिक दुष्टिकोण, लैगिक समता, ईमानदारी, निष्ठा, साहस व न्याय

(निष्पक्षता), सभी प्राणियों तथा विभिन्न संस्कृतियों एवं भाषा के लिए आदर-भाव, इत्यादि मूल्य ही ऐसे मूल्यों का धरातल तैयार करते हैं जो कि देश की एकजुटता तथा अखण्डता के लिए बुनियादी है। यदि शिक्षा की प्रक्रिया में इन आधारभूत मूल्यों का समावेश नहीं होता तो शिक्षा अपनी अतर्निहित उपादेयता ही खो बैठती है। स्कूलों और कालेजों में होने वाले सभी पाठ्यक्रम-आधारित एवं पाठ्यक्रमेतर क्रियाकलापों के द्वारा यह संदेश स्पष्टतः एवं दृढ़ता के साथ प्रसारित किया जाना चाहिए। यह भी नहीं भूलना होगा कि "काम के अधिकार" का "काम के प्रति कर्त्तव्य" के साथ सह-संबंध है।

xviii) स्कूली शिक्षा को, जिसे विविध सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में करोड़ों बच्चों के घरों तक पहुंचने का दायित्व सौंपा गया है, उसे "उच्च स्तरीय" नियोजन और प्रबंध के चंगुल से मुक्त कराना होगा। राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा अनुमोदित आठवीं पंचवर्षीय योजना के दिशाबोध पर्चे में प्रस्तावित "स्थानीय आंचलिक नियोजन" की कल्पना अपरिहार्य है, जिसके अनुसार शिक्षक एवं स्थानीय समुदाय को केन्द्र-बिंदु बनना होगा। प्रत्येक संस्था के प्रमुख (प्रधान अध्यापक/अध्यापिका, प्राचार्य आदि) को सही मायनों में प्राधिकार देने होंगे। स्कूलों को स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए और उन्हें अफसरशाही एवं निरीक्षण प्रणाली के दबाव व बंधनों से मुक्त किया जाना चाहिए। प्रत्येक संस्था के अंदर आंतरिक लोकतंत्र को मज़बूत करना होगा। प्राथमिक से उच्च शिक्षा जैसे विभिन्न स्तरों की शिक्षण संस्थाओं को गुच्छों में इकट्ठे होकर शिक्षा संकुल बनाने होंगे। उन्हें चाहिए कि वे अपने भौतिक एवं बौद्धिक संसाधनों का एक साथ मिलकर उपयोग करें। वे विविध शैक्षिक क्रियाकलापों (औपचारिक, औपचारिकेतर, प्रौढ़ शिक्षा आदि) में आपस में आदान-प्रदान करके विभिन्न आयामों—नियोजन, क्रियान्वयन, अनवरत मूल्यांकन, शोध

व नवाचार, और शिक्षक प्रशिक्षण—की जिम्मेदारी उठाए। अचलो मे कार्यरत सरकारी विकास एजेंसियो को चाहिए कि वे शिक्षा सकुलों के साथ संयोजन करके इस प्रकार स्कूल-केन्द्रित गतिविधिया करें जिससे कि दोनों पक्ष—विकास एजेंसिया और स्कूल—लाभान्वित हो।

xix) सरकार के अन्दर शैक्षिक प्रबध के प्रश्न को अब इस पर्चे में प्रस्तावित विकेन्द्रित प्रबध के परिप्रेक्ष्य में नए सिरे से देखने की जरूरत है। केन्द्रीय, राज्य एव जिला-स्तरीय तमाम स्रोत सस्थाओं एवं स्तर-निर्धारण करने वाली एजेंसियों को अपनी-अपनी भूमिकाओं को इस प्रकार पुनःपरिभाषित करना होगा कि नीचे तक सभी स्थानीय इकाइयों में संस्थागत क्षमताएं विकसित हों, न कि वे केवल अपने-आपको दूर से नियंत्रण करने वाली एजेंसियों के रूप में भारी-भरकम बनाती जाए। इसके लिए आवश्यक है कि ये उच्च-स्तरीय एजेंसिया स्वय ही मर्यादित व्यवहार करना सीखें। शैक्षिक प्रशासन के हर स्तर पर शिक्षा मे कार्यरत लोगों की घनिष्ठ रूप से सहभागी बनाना होगा। लोचदार प्रणालियों की मदद से यह सुनिश्चित करना होगा कि प्रशासन इतना संवेदनशील हो कि विकेन्द्रित ढांचों एव प्रक्रियाओं द्वारा की जा रही पहलों, उठाई जा रही मागों एव नवाचारी कदमों के प्रति लगातार न्यायोचित ध्यान दे सके।

xx) इस पर्चे में कई प्रमुख नवाचारी कदम प्रस्तावित किये गये हैं—औपचारिक शिक्षा को औपचारिकेतर बनाना, लोगो को काम के लिए समर्थ बनाना, शैक्षिक अवसरों को समान बनाना, महिलाओं की शिक्षा, प्रमापी पाठ्यक्रमों और सीमेस्टर प्रणाली को लागू करना, वर्तमान सार्वजनिक परीक्षाओं के स्थान पर अनवरत समग्र आंतरिक मूल्यांकन को प्रोत्साहित करना, शैक्षिक प्रबंध को विकेन्द्रित करना एवं विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रमों को विकास के साथ

जोड़ना। इन सभी का तात्पर्य है कि शिक्षक, शिक्षा-मंच पर प्रमुख स्थान ले। इस संदर्भ में शिक्षकों का दर्जा एवं उनकी भूमिका, भर्ती, सेवा शर्तें एवं प्रशिक्षण के तमाम प्रश्नों को ताजी निगाहों से देखने की ज़रूरत है।

xxi) शिक्षक एवं विद्यार्थी समुदाय के बीच बढ़ता हुआ तनाव संभवतः इस बात का लक्षण है कि समस्या-निदान हेतु किसी समुचित प्रणाली का अभाव है। इस प्रश्न पर शिक्षण के विषयों की संख्या में प्रसार, उच्च शिक्षा का सर्वत्र फैलाव और उसके कारण कार्मिकों की बढ़ती हुई संख्या, प्रवेश के संबंध में द्वन्द्व, परीक्षाओं में व्याप्त कुरीतियां आदि समस्याओं के संदर्भ में जांचने की ज़रूरत है। न्यायालय के कुछ निर्णयों के कारण भी ऐसी परिस्थिति बनी है जिसमें विशेषकर शिक्षकों के दर्जे और अधिकारों के बारे में स्पष्टता का अभाव है। विश्वविद्यालय परिसरों की परिस्थिति के ऊपर विधि आयोग ने न्याय देने की व्यवस्था को विकेन्द्रित करने के संदर्भ में विचार किया है। इस प्रकार आयोग ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में न्याय हेतु ट्रिब्यूनल स्थापित करने की अनुशंसा की है जिसमें लोगों की भागीदारी के लिये प्रावधान किया गया है। यह उचित होगा कि इन सिफारिशों के औचित्य एवं उनके क्रियान्वयन की व्यावहारिकता पर विचार हो।

xxii) केन्द्र व राज्य दोनों के बजटों में शिक्षा के लिये कहीं अधिक मात्रा में आबंटन प्राप्त करना होगा। यह भी सुनिश्चित करने की ज़रूरत है कि संसाधन सामाजिक एवं क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने तथा शैक्षिक अवसरों को व्यापक बनाने के लिये अलग से उपलब्ध कराये जायें। तात्पर्य यह है कि शिक्षा के विभिन्न हिस्सों के बीच आबंटनों का वितरण युक्तिसंगत होने के अलावा समानता एवं सामाजिक न्याय जैसे उद्देश्यों के भी अनुरूप होना चाहिए, जिनको सुनिश्चित करने के लिये शिक्षा नीति

में संशोधन किया जा रहा है। संसाधनों को प्राप्त करने के नये तौर-तरीकों पर भी विचार करना होगा। एक प्रस्ताव के अनुसार केन्द्रीय और राज्य सरकारों के विकास से संबद्ध विभिन्न विभागों को मिलकर अपने-अपने शिक्षा संबंधी अवयवों को जोड़ना होगा और शिक्षा संकुलों के माध्यम से स्कूली शिक्षा के समर्थन में अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध कराने होंगे। इस प्रकार स्कूली शिक्षा बहु-क्षेत्रीय सरोकार के रूप में उभरेगी।

xxiii) संविधान की समवर्ती सूची में शिक्षा को सम्मिलित करने के घोषित उद्देश्यों में प्रारंभिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण, शैक्षिक असमानताओं को समाप्त करना इत्यादि शामिल हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए केन्द्र के तत्वावधान में चलाई जा रही प्रायोजित योजनाएं न्यायसंगत हो भी सकती हैं या नहीं भी हो सकतीं, परन्तु यह साफ है कि राष्ट्रीय विकास परिषद् द्वारा अनुमोदित आठवीं पंचवर्षीय योजना के दिशाबोध पर्चे में स्थानीय आंचलिक नियोजन पर विशेष ज़ोर दिया गया है। इसलिए वर्तमान में चल रही केन्द्रीय प्रायोजित योजनाओं (आपरेशन ब्लैक बोर्ड, औपचारिकेतर शिक्षा आदि) को राज्यों को स्थानांतरित करने की ज़रूरत होगी, हालांकि इन अति महत्वपूर्ण दिशाओं में पहले से उठाये गये कदमों में एकाएक बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। व्यावहारिकता की दृष्टि से केन्द्रीय प्रायोजित योजनाएं साधारणतया पंचवर्षीय योजना की पूरी अवधि के लिए चलाई जाती हैं। नई शिक्षा नीति, 1986 के अनुसरण में शुरू की गई चालू केन्द्रीय प्रायोजित योजनाएं मात्र दो वर्षों से प्रभावी रूप में क्रियान्वित हो रही हैं। ये योजनाएं वर्ष 1992-93 के अंत तक जारी रह सकती हैं। इन योजनाओं के क्रियान्वयन की उस वर्ष की समाप्ति के पहले समीक्षा करने की जरूरत होगी। कुछ भी हो, कोई भी नई केन्द्रीय प्रायोजित योजना तब तक शुरू न की जाए जब तक

कि वह हर स्तर पर और नीचे तक शैक्षिक प्रबध को विकेन्द्रित करने की उद्देश्यपूर्ति के लिए न हो।

xxiv) स्वयंसेवी सगठनों व कार्यकर्त्ता समूहों को, लोगों की अपनी पहल और सामाजिक परिवर्तन लाने के इरादे की अभिव्यक्ति के रूप में देखने की जरूरत है, न कि सरकार द्वारा प्रायोजित स्कीमो व कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने वाली मात्र एजेन्सियो के रूप मे। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि सरकारी पैसो के उदार प्रवाह के कारण इन संस्थाओं की स्वैच्छिक भावना शिथिल न हो जाये और न ही वे अपने द्वारा तय किये गये कर्म मार्ग से भटकें। सरकार के लिए बेहतर रास्ता तो यही हो सकता है कि वह स्वयंसेवी सगठनों द्वारा की गयी पहल के अनुरूप उनके कार्यक्रमों के सदर्भ में कार्रवाई करे, बजाय इसके कि इन सगठनो को पूर्व-निर्धारित एकरूपी सरकारी कार्यक्रमो के लिए जुटाया जाये। वहीं यह भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि स्वयंसेवी सगठन व समूह इस बात के प्रति स्वय सचेत हो कि सरकार और विदेशी स्रोतों से बड़ी मात्रा में वित्तपोषण से उनके अपने स्वैच्छिक चरित्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। इन सगठनों को स्थानीय समुदाय के प्रति जवाबदेह बनाने के लिए उनकी कार्यप्रणाली को पारदर्शक बनाना होगा। इनके काम का मूल्यांकन करने के लिए स्थानीय स्तर पर विकेन्द्रित तौर-तरीकों को भी विकसित करना होगा।

xxv) शिक्षा को एक जन-आंदोलन के रूप में पुनर्गठित करना होगा जिसमें केन्द्र और राज्य दोनों की एक सहायक एवं सुलभकारी भूमिका हो। स्थानीय निकायो एवं स्वयंसेवी सगठनों के माध्यम से लोग क्षेत्र की सभी शैक्षिक आवश्यकताओं के सृजनात्मक, नवाचारी एवं सहभागी प्रबंध में क्रमगत रूप से ज्यादा हिस्सा ले सकते हैं।

xxvi) "मानव-अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा" में यह घोषित किया गया है कि सभी व्यक्तियों को, बिना लिंग, जाति, सम्प्रदाय एवं आर्थिक भेद-भाव के, "शिक्षा का अधिकार" प्राप्त है। उचित ही है कि भारत ने इस घोषणा का अनुपालन किया है। प्रस्तावित "काम के अधिकार" को व्यावहारिक तौर पर तब तक सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है जब तक कि "शिक्षा के अधिकार" को मौलिक अधिकार न बना दिया जाये, ताकि लोग न्यूनतम शिक्षा प्राप्त कर सकें। अतः "शिक्षा के अधिकार" को मौलिक अधिकार बनाने की दृष्टि से संवैधानिक संशोधन की संभावना की जांच करने की ज़रूरत है।

## III

## कुछ तौर-तरीके

### स्कूली तंत्र को चारदीवारी से बाहर निकालना और औपचारिकेतर बनाना

लोकव्यापीकरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्कूल को एक प्रमुख साधन मान लेने की ज़रूरत है। इसे न केवल उन बच्चों के लिए कारगर होना है जो पढ़ने आते हैं, बल्कि उनके लिए भी जो स्कूल से वंचित रह जाते हैं। स्कूल के लिए वित्तीय ससाधनों के प्रावधान में भारी मात्रा में वृद्धि करने की ज़रूरत है। एक लोचदार स्कूल प्रणाली की कुछ विशेषताएं निम्नानुसार हो सकती हैं :

अधिकांश बच्चों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए और स्थानीय समुदाय से सलाह-मशविरा करके स्कूल का समय बदलकर जल्दी सबेरे, दोपहर या देर शाम किया जा सकता है।

स्कूल में अधिकतम उपस्थिति सुनिश्चित करने की दृष्टि से स्कूली केलैण्डर का खेती के काम, स्थानीय सास्कृतिक गतिविधियों एवं साप्ताहिक हाट के साथ समायोजन।

स्कूली घटों में कटौती और सीखने के घटों में वृद्धि।

जहा आवश्यक हो वहा दिन मे दो बार कक्षा का आयोजन—प्रातःकाल लिखित परंपरा के लिए और सायकाल मौखिक परंपरा तथा सास्कृतिक कर्म के लिए।

भाषा सीखने की सुधरी हुई पद्धतियों पर विशेष ध्यान।

- कक्षाविहीन स्कूल ; विभिन्न स्तरों के बच्चे अपने सीखने की गति स्वयं निर्धारित करें; पूरक उपचारी शिक्षण यानि कमज़ोर बच्चों पर विशेष ध्यान देने का प्रबध।

- पहली पीढ़ी के विद्यार्थियों और कामकाजी बच्चों (विशेषकर लड़कियों) के लिए उनकी इच्छानुसार किसी भी समय स्कूल में आने की छूट।

- खोज-बीन, पूछताछ, जिज्ञासा, प्रश्न करना और आनद उठाना।

- समूह में सीखना।

- हमउम्र बच्चों द्वारा शिक्षण।

- विषय-वस्तु और प्रक्रिया को पर्यावरण और सामुदायिक जीवन के साथ जोड़ना।

- शिक्षण के एक अभिन्न अंग के रूप में सतत मूल्यांकन; परिस्थितियों के अनुसार मूल्यांकन का यथासंभव विविधीकरण।

- लोक कथाओं, संगीत, कठपुतली, जड़ी-बूटियों से चिकित्सा आदि के लिए स्थानीय लोगों को स्कूल में आमंत्रित करके शिक्षण कार्य में समुदाय की भागीदारी।

- शिक्षकों का स्कूल में ही शिक्षण कार्य के साथ-साथ स्थानबद्ध (इन्टर्नशिप) शैली के अनुसार प्रशिक्षण।

उपरोक्त सुझाव तो उदाहरण मात्र हैं, ऐसे और कई नवाचारी कदम सुझाए जा सकते हैं। इनको या इनमें से कुछ को लागू करके स्कूल को चारदीवारी से बाहर निकाला जा सकता है एवं औपचारिकेतर बनाया जा सकता है। या यू कहें कि स्कूल लोगों तक पहुंच सकता है।

औपचारिक स्कूली तंत्र की रूढ़िवादिता को केवल धीरे-धीरे ही तोड़ा जा सकता है। यहां यह कहना ज़रूरी होगा कि यदि इस प्रकार स्कूली शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार लाया जाए तो भी बच्चों के कई समूह स्कूल से अपनी आर्थिक मजबूरियों या विशेष सामाजिक परिस्थितियों के कारण वंचित रह सकते हैं। इन बच्चों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संक्रमण काल में औपचारिकेतर शिक्षा के लिए कर्म/चेतना-उन्मुखी पद्धतियों के अनुसार प्रावधान करने की ज़रूरत होगी। इन पद्धतियों के संदर्भ में शिक्षण के नतीजों और उससे की जा सकने वाली न्यूनतम अपेक्षाओं को नए सिरे से परिभाषित करना होगा।

## 2. सार्वजनिक स्कूल प्रणाली

"सार्वजनिक स्कूल प्रणाली" की सिफारिश कोठारी आयोग ने की थी। इसे सन् 1968 और 1986 की राष्ट्रीय नीतियों में स्वीकार किया गया था। सन् 1968 की नीति में कहा गया है :

> "सामाजिक जुड़ाव एवं राष्ट्रीय एकजुटता को प्रोत्साहित करने के लिये शिक्षा आयोग द्वारा की गई सिफारिश के अनुसार सार्वजनिक स्कूल प्रणाली अपनाई जानी चाहिए। आम स्कूलों में शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए प्रयास किये जाने चाहिए। पब्लिक स्कूलों जैसे सभी विशेष स्कूलों के लिए यह ज़रूरी होना चाहिये कि वे योग्यता के आधार पर विद्यार्थियों को प्रवेश दें और सामाजिक वर्गों का बिखराव रोकने के लिए निर्धारित अनुपात में छात्रवृत्तियां प्रदान करें। किसी भी हालत में इससे संविधान के अनुच्छेद 30 के अंतर्गत अल्पसंख्यकों के हक प्रभावित नहीं होंगे।"

अभी तक इस अवधारणा को कार्यरूप नहीं दिया गया है। यह भी एक कारण है कि स्कूली तंत्र में अभिजात्य प्रवृत्ति बढ़ी है। ऐसा इन अर्थों में है कि निर्धन तबकों के लिये तुलनात्मक गुणवत्ता की शिक्षा का प्रावधान संभव नहीं हुआ है और संपन्न तबकों की पैठ निजी तौर पर चलने वाली महंगी संस्थाओं में उपलब्ध शिक्षा तक है। सार्वजनिक स्कूल प्रणाली को कार्यरूप देने के लिये निम्नलिखित उपाय करने होंगे :

- प्रारम्भिक (विशेषकर प्राथमिक) शिक्षा के लिये आबटन मे भारी वृद्धि। इससे मूलभूत सुविधाओं को वाछनीय स्तर तक लाने और शिक्षा के स्तर को ऊपर उठाने मे मदद मिलेगी। इस प्रकार सरकारी, स्थानीय निकाय और सहायताप्राप्त स्कूलो को सच्चे अर्थो में "पड़ोसी स्कूलो' मे बदला जा सकेगा।

- पिछड़े अचलों, शहरी गंदी बस्तियो, आदिवासी क्षेत्रो, पर्वतीय इलाकों, रेगिस्तानी और दलदली भू-भागो, सूखा व बाढ़ग्रस्त क्षेत्रो, तटीय इलाको और द्वीप समूहो में स्कूली तत्र में सुधार लाने हेतु विशेष आबटनों का प्रावधान।

- प्राथमिक स्तर पर सभी के लिए, विशेषकर भाषाई अल्पसख्यकों के लिये, मातृभाषा के माध्यम से शिक्षण सुनिश्चित करना; माध्यमिक स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं में शिक्षण को सक्रिय प्रोत्साहन देना; एव मातृभाषा/क्षेत्रीय भाषा के माध्यम के अलावा अन्य माध्यम से शिक्षा दे रहे स्कूलो को सरकारी सहायता देना बंद करना।

- सार्वजनिक स्कूल प्रणाली का चरणों में और 10 वर्ष की अवधि में समय निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार क्रियान्वयन, एव शुरुआती स्तरो पर बच्चो के प्रवेश हेतु चयन प्रक्रिया, ट्यूशन फीस, कैपीटेशन फीस आदि व्यवस्थाओं को समाप्त करने के लिये न्यूनतम आवश्यक कानून का उपयोग।

  खर्चीले निजी स्कूलों को सार्वजनिक स्कूल प्रणाली के दायरे मे लाने की सभावनाओं की खोज करना। इसके लिए प्रोत्साहन देने, निरुत्साहित करने और कानून बनाने जैसे उपायों का इस्तेमाल किया जा सकता है।

### 3. लोगों को काम के लिये समर्थ बनाना

स्कूली तंत्र में व्यावसायिक शिक्षण की वर्तमान प्रणाली विद्यार्थियो को व्यावसायिक धारा की ओर आकृष्ट करने में सफल नहीं हुई है। लोगो

को काम के लिए समर्थ बनाने के हेतु शिक्षा मे बदलाव लाने का अर्थ मात्र बाजार के लिए उपयोगी कुछ कौशलों को विकसित करना नही है। शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया में सामाजिक दृष्टि से उपयोगी काम और उत्पादक श्रम के प्रति सम्मान की एक सस्कृति विकसित करनी होगी। इसके फलस्वरुप केवल और अधिक प्रासगिक ज्ञान विकसित करने में ही नहीं, बल्कि ऐसी सृजनशील बुद्धि के विकास में भी मदद मिलेगी जिसके आधार पर इन्सान जीवन भर सीख सके। यही एक तरीका है जिससे लोगों को काम के लिए समर्थ बनाया जा सकता है। शिक्षा की निर्णायक भूमिका विद्यार्थियों को रचनात्मक काम के लिए क्षमताओं के साथ लैस करने में है। विकासोन्मुख नियोजन प्रक्रिया को अमल में लाकर काम के नये अवसर उत्पन्न करने होंगे।

मूल उद्देश्य यह है कि "स्कूल की दुनिया" और "काम की दुनिया" के बीच कारगर कड़िया स्थापित की जाए।

उपर्युक्त सदर्भ मे शिक्षा के व्यवसायीकरण के पुनर्निर्माण मे निम्नलिखित विशेषताए होंगी:

- कार्यानुभव/सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक काम को प्रारम्भिक स्तर पर स्कूली पाठ्यक्रम के एक अभिन्न अग के रूप मे शामिल किया जाना चाहिए। इसको विभिन्न विषयो के साथ विषय-वस्तु और शिक्षण पद्धति दोनो स्तरों पर जोड़ने की ज़रुरत होगी। यह कदम कार्यानुभव/ सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादक काम के नाम पर कुछ पीरियडो को रस्म-बतौर अलग रख देने के रिवाज से बिल्कुल ही भिन्न होगा।

  माध्यमिक शिक्षा को अकादमिक और व्यावसायिक धाराओं मे बाटा नही जाना चाहिए। सभी विद्यार्थी कोर पाठ्यक्रम का अनुसरण करें जिसमे व्यावसायिक अवयव के लिए महत्वपूर्ण स्थान होगा।

माध्यमिक शिक्षा को निम्न तथा उच्च स्तरो में विभाजित नहीं किया जाना चाहिए।

माध्यमिक शिक्षा में भारी संरचनात्मक परिवर्तन किया जाये। इसके लिए प्रमापी (मॉड्यूलर) पाठ्य-शृखलाए, सीमेस्टर प्रणाली एव इकाई संचयन (क्रेडिट संचयन) और साथ में विद्यार्थियों को अपनी आवश्यकतानुसार बहुलक्ष्यीय प्रवेश व निर्गम की छूट, इत्यादि उपाय ज़रुरी होगे (यह सिद्धान्त उच्च शिक्षा के स्तर पर भी लागू हो)।

स्कूलों द्वारा भाषा, गणित, विज्ञान तथा सामाजिक अध्ययन जैसे अकादमिक विषयों के साथ विभिन्न विषय-समूहों मे व्यावसायिक पाठ्यक्रमों का प्रावधान करना होगा। (इस प्रकार के समेकित पाठ्यक्रमो को लागू करने के सिलसिले में अकादमिक विषय-वस्तु का महत्व कम नहीं होना चाहिए।

माध्यमिक स्तर पर स्वरोज़गार या नौकरियों मे सीधी भर्ती के उद्देश्य से जो विद्यार्थी व्यावसायिक शिक्षण के लिए इच्छुक होंगे, उनके लिए संबंधित व्यावसायिक या अन्य विषयों में, और यदि ज़रूरी हुआ तो सेतु पाठ्य-शृंखलाओं द्वारा आगे की शिक्षा हेतु प्रावधान होगा।

व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को इस प्रकार पुनर्गठित किया जाए कि वे संगठित तथा असंगठित दोनों क्षेत्रों में सरकारी विकास और समाज कल्याण विभागो सहित खास तौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक पेशों के लिए प्रासंगिक बन सकें।

व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की रूपरेखा इस प्रकार की होनी चाहिए कि विद्यार्थी आगे जाकर एक पेशे से दूसरे पेशे में जाने के लिए कुशल बनें ताकि उनके जीवन में

अधिकाधिक गतिशीलता सुनिश्चित की जा सके और वे तेजी से बदलती हुई तकनीक की मांगों के साथ बदलने में समर्थ हों।

- पाठ्यक्रम विकास एवं कौशल प्रशिक्षण, नियोक्ता संस्थानों/एजेंसियों की ज़रूरतों के अनुरूप हों। इन नियोक्ता एजेंसियों के कार्मिकों को पाठ्यक्रम निर्माण, शिक्षण एवं कौशल प्रशिक्षण की प्रक्रियाओं में शामिल किया जाना चाहिए। इनका उपयोग "अभ्यास शालाएं" (प्रैक्टिस स्कूल) और शैक्षिक दृष्टि से सहायक "कार्यपीठ" (वर्क बैंच) स्थापित करने के लिए किया जाए।

["कार्यपीठ" और "अभ्यास शाला" का अर्थ उन कार्य परिस्थितियों से है जिनका चयन उत्पादन इकाइयों अथवा सरकारी विकास/समाज कल्याण विभागों में से विद्यार्थियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण और प्रत्यक्ष अनुभव देने के उद्देश्य से किया जाएगा। इस व्यवस्था में विद्यार्थियों को व्यावसायिक अनुभव प्राप्त करने के लिए अधिक कारगर शैक्षिक रणनीति उपलब्ध हो जाती है, बजाए जिसका प्रबंध कक्षा की चारदीवारियों के अंदर किया जा सकता है। यहां, प्रशिक्षण व्यावहारिक समस्याओं के समाधान और काम के दौरान कौशल विकास के सिद्धांतों पर आधारित होगा। जबकि "अभ्यास शाला" संगठित क्षेत्र में ज्यादा बड़ी इकाइयों में संस्थागत व्यवस्था है, वहीं 'कार्यपीठ' वह व्यवस्था है जिसे स्कूल के पड़ोस में, असंगठित क्षेत्र में भी, अपेक्षाकृत छोटी इकाइयों में से खोजकर स्कूल के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है। दोनों हालात में, स्कूल को कुशल कार्मिकों या उपकरणों पर कोई निवेश नहीं करना होगा, क्योंकि ये संसाधन आपस में तय की गई फीस या उसके बिना ही "काम की दुनिया" में उपलब्ध हो जाएंगे।]

- विद्यार्थियों को प्रमाणपत्र देने के काम में विकेन्द्रीकरण का उद्देश्य संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों में उत्पादन इकाइयों एवं सरकारी विभागों को इस हेतु मान्यता प्रदान करके पूरा किया जा सकता है। ऐसी मान्यता प्राप्त इकाइयों में गुणवत्ता के स्तर को बरकरार रखने के लिये एक कारगर निरीक्षण प्रणाली विकसित करनी होगी।

- सरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में नौकरियों के लिये भर्ती नीति में समवर्ती परिवर्तन करने की ज़रूरत होगी, ताकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को उनमें मान्यता मिल सके।

- एप्रेन्टिसशिप ऐक्ट में यथोचित संशोधन किया जाये ताकि माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रम के विद्यार्थियों को एप्रेन्टिसशिप की सुविधा मिल सके।

- नियोजक एजेन्सियां अपनी अलग परीक्षण व्यवस्था विकसित और लागू कर सकती है, ताकि डिग्रियों को नौकरियों से विधिवत् रूप से अलग किया जा सके।

## 4. परीक्षा सुधार

प्राथमिक से उच्च शिक्षा तक शिक्षा के विभिन्न स्तरों के अंत में एक केन्द्रीकृत सार्वजनिक परीक्षा को थोपने का असर भेदभावपूर्ण होता है। परीक्षाएं विद्यार्थियों या शिक्षा तंत्र के मूल्यांकन में असफल रही है। दरअसल, इन्होंने शिक्षा के मूल उद्देश्य को विकृत करके शिक्षा प्रणाली को ही नष्ट कर देने की कोशिश की है। परीक्षाओं की संख्या भी बहुत ज्यादा रही है और वे खर्चीली भी हैं। विश्वविद्यालयों पर भी वर्ष भर परीक्षाएं कराने का बहुत ज्यादा बोझ रहता है। जिन बातों पर तत्काल ध्यान देने की ज़रूरत है उनमें प्रमापी पाठ्यक्रम एवं सीमेस्टर प्रणाली स्थापित करने की प्रक्रिया एवं शिक्षकों को मूल्यांकन की जिम्मेदारी सौंपना शामिल है। विद्यार्थियों को प्रमापी पाठ्य-शृंखलाओं में से चुनने की छूट होनी चाहिए, बजाए इसके कि उन्हें कई विषयों का एक पूर्व-निर्धारित एकरूपी पाठ्यक्रम

स्वीकारना पड़े। इकाई (क्रेडिट) संचयन तथा इकाइयों को एक संस्थान से दूसरे संस्थान में स्थानांतरित करने का प्रावधान किया जाना ज़रूरी होगा।

एक समग्र एवं सतत आंतरिक मूल्यांकन प्रणाली, मौखिक तथा लिखित दोनों की, शुरुआत की जानी चाहिए। पाठ्यपुस्तकों के निर्धारण के बजाय पठनीय सामग्री की लोचदार सूचिया हो। इस व्यवस्था का उद्देश्य सीखने की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना तथा पढ़ाई के दौरान ही उसमें सुधार लाना है। प्रयास यह हो कि एक प्रतिबद्धता के साथ समयबद्ध तरीके से सभी स्तरों पर वार्षिक सार्वजनिक परीक्षाओं को समाप्त किया जाये। सिद्धान्त यह है कि "जो पढ़ाये, वही मूल्यांकन करे, वही पाठ्यक्रम निर्धारित करे"। शिक्षा के एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने के लिये विद्यार्थी प्रवेश परीक्षाओं में बैठेंगे।यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में परीक्षा सुधार की बात कही गई है, परन्तु यह सुधार क्रियान्वित नहीं किया गया। परीक्षा सुधार के उपर्युक्त सभी कदमों को एक समुच्चय के रूप में देखने की ज़रूरत होगी और शुरू में इन्हें प्रयोग बतौर लागू किया जा सकता है। इस संदर्भ में एक खंडित एवं अनमना दृष्टिकोण भ्रामक तथा घातक होगा।

## 5. भाषा

वर्षों से शिक्षण के क्षेत्र में भाषा-संबंधी नीति का प्रमुख पहलू रहा है मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा को अपनाये जाने पर जोर देना। संविधान भी धारा 350-ए में विशेष रूप से निर्देशित करता है कि प्रांतीय और स्थानीय अधिकारियों को भाषायी अल्पसंख्यक समूहों के बच्चों को प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा देने की समुचित सुविधाएं उपलब्ध करानी चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 ने भाषा के बारे में 1968 की नीति का "उत्साहपूर्ण" और "सोद्देश्य" क्रियान्वयन करने की सिफारिश की थी।

सुस्पष्ट नीतिगत सुझावों के बावजूद व्यवहार में देश भर में मातृभाषा/ क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाये जाने की प्रक्रिया काफी असमान रही है। खास कर उच्च शिक्षा के क्षेत्र में क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षण के माध्यम के रूप में अपनाये जाने की प्रक्रिया काफी धीमी रही है। बहुत बड़ी

तादाद में बच्चे, विशेषकर ग्रामीण इलाकों में, उच्च शिक्षा की संस्थाओं में प्रवेश पाने से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि वे इस स्थिति में ही नहीं होते कि वे स्कूली स्तर पर अंग्रेजी भाषा में अनिवार्य सार्वजनिक परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकें। यह शिक्षा के क्षेत्र में एक हद तक भेदभाव को पैदा करता है और परिणामतः दोहरी शिक्षा प्रणाली को जन्म देता है, जिसमें एक सम्पन्न लोगों के लिए तो दूसरी सुविधा व साधनहीन लोगों के लिए होती है।

मातृभाषाओं/क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा के हर स्तर पर उनके प्रमुख/समुचित स्थान को सुनिश्चित करने के लिए एक चरणबद्ध रणनीति तैयार करने की ज़रूरत है। ऐसा करने के लिए कई एक समस्याओं पर गौर करना होगा, जैसे—किस स्तर पर विभिन्न भाषाओं को सीखने का काम प्रारम्भ होना चाहिए, भाषा में समर्थता के मूल्यांकन के तौर-तरीके क्या हों, शास्त्रीय (क्लासिकल) और विदेशी भाषाओं के सीखने का ढंग क्या हो और उन्हें किस तरह पाठ्यक्रम में शामिल किया जाये, भाषा के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए कौन-सी नयी पद्धतियां अपनाई जायें, और भाषा के शिक्षण/सीखने की प्रक्रिया में शैक्षिक तकनीक की भूमिका क्या हो।

तमाम भारतीय भाषाओं को विकसित करने के उद्देश्य से समान माना जाना चाहिए। भाषा के संबंध में जवाहरलाल नेहरू के आश्वासन को भी ध्यान में रखना होगा।

मौजूदा स्थिति के आकलन के लिए भारत का भाषायी सर्वेक्षण ज़रूरी है, क्योंकि ऐसा सर्वेक्षण दशकों पहले हुआ था और उसके बाद परिस्थिति में काफी बदलाव आया है।

देश की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के बीच आपसी आदान-प्रदान को आगे बढ़ाने के लिए मौजूदा शिक्षक प्रशिक्षण सुविधाओं और भाषा संसाधन संस्थानों का उनकी कुल क्षमता के अनुरूप इस्तेमाल करना होगा। उन शिक्षकों को विशेष प्रोत्साहन देना होगा जो अपनी भाषा के अलावा कोई दूसरी आधुनिक भारतीय भाषा सीखने के इच्छुक हैं। भाषा शिक्षण में हुए आधुनिक शोध के परिणामों को लागू करने की आवश्यकता है।

उच्च शिक्षा के स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं में भारतीय साहित्य के शिक्षण का प्रावधान किया जाए, इस दृष्टि से कि इससे राष्ट्रीय एकजुटता को मजबूती मिलेगी।

## 6. महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा

शिक्षा में लड़कियों व महिलाओं की भागीदारी को बढ़ाने के लिए जरूरी हैं कि महिलाओं से संबधित प्रश्नों के समाधान स्कूल की चारदीवारी से बाहर भी सर्वव्यापी तौर पर खोजे जाये। ये प्रश्न उन तमाम कारकों से संबधित हैं जो शिक्षण संस्थाओं तक महिलाओं की पहुंच को बाधित करते हैं। उन कदमों के अलावा, जिनकी हमने इस दस्तावेज में अन्यत्र चर्चा की है, इन तमाम मुद्दो का सामना करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण कदम निम्नलिखित हैं :-

- स्कूलों को उन अनिवार्य सेवाओं को प्रदान करने का केन्द्र बिन्दु बनाया जाये, जिनको विभिन्न स्थानीय सरकारी एजेंसियां मुहैया करती हैं, जैसे—पोषण, स्वास्थ्य, शिशुओं की देखभाल, इत्यादि।

- घर के नजदीक स्कूलों, खासकर मिडिल स्कूलों, की उपलब्धता में वृद्धि करना।

- जहां जरूरी हो छात्रावास की सुविधा मुहैया कराना।

- महिला शिक्षिकाओं के अनुपात मे दृष्टिगोचर वृद्धि करना।

- छात्रवृत्ति, पाठ्य-पुस्तकों की मुफ्त आपूर्ति, पोशाक इत्यादि के रूप में प्रोत्साहन देना।

- महिला पॉलिटेकनिकों की स्थापना (राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 के तहत निर्मित "कार्य योजना" मे निर्धारित करने के बावजूद इसका क्रियान्वयन नही हुआ है)।

- विश्वविद्यालयो मे महिला अध्ययन शोध केन्द्रों का विकास; पुनः यह कहना पड़ता है कि यह प्रस्ताव "कार्य योजना" में शामिल था लेकिन इस पर काफी छिट-पुट तरीके से अमल किया गया।

- महिला शिक्षा के लिए सुनिश्चित राशि उपलब्ध कराना।

- प्राथमिक शिक्षा के लिए उपलब्ध संसाधनो का 50% हिस्सा महिलाओं के लिए निर्धारित करना।

- अनुसूचित जातियों/जनजातियो की महिलाओं के लिए इन समुदायों के शैक्षिक विकास के लिए प्रदत्त संसाधनों का 50% सुनिश्चित करना।

- संचार माध्यम के कार्यक्रमो को (खासकर दूरदर्शन के) लैंगिक पूर्वाग्रह, लिंग-आधारित छवि और यौनिक हिंसा को बढ़ावा देने की प्रवृत्तियों से मुक्त कराना। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक लैंगिक समानता के मूल्यों का स्कूली व्यवस्था में समावेश कर पाना संभव नहीं होगा।

## 7. क्षेत्रीय असमानता को दूर करना

चूंकि हमारा देश काफी बड़ा है, भाषा, संस्कृति और संसाधनों की उपलब्धता में काफी विविधता है, इसलिए एकरूप नीतियां, रणनीतियां, निवेश के तरीके और लक्ष्य, क्षेत्रीय और उप-क्षेत्रीय असमानता की समस्या के समाधान में मदद नहीं करेंगे। निस्संदेह, पूर्व में भी अंतरप्रादेशिक असमानताओं की समस्या का सामना करने के लिए शैक्षिक रूप से पिछड़े राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों के लिए विशेष नियोजन और कोष के आबंटन के प्रयास किए गये। लेकिन यह काफी नहीं है। यकीनन, ऐसे राज्य जो कुछ मानकों के आधार पर शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े नहीं कहे जा सकते, उनमे भी पिछड़े इलाके पाए जाते हैं। "आठवीं पंचवर्षीय योजना का दिशाबोध पर्चा" योजना के विकेन्द्रीकरण की बात के जरिये काफी कुछ कहता है। इसलिए, जरूरत

इस बात की है कि जिला और उप-जिला स्तर पर पिछड़े इलाकों को चिह्नित किया जाये। शैक्षिक विकास के लिए सार्थक नियोजन करते समय जिला, ब्लाक और गांव के स्तर पर खाका तैयार करना होगा।

इस प्रकार शैक्षिक विकास के लक्ष्यों के निर्धारण को भी विविधीकृत और इलाका विशेष पर (यहां तक कि लिंग विशेष पर भी) आधारित किया जाना चाहिए, चाहे यह लक्ष्य लोकव्यापी प्रारंभिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा या व्यावसायिक शिक्षा से संबंधित हो। विभिन्न अंचलों को अपने-अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेशों के अनुरूप विकेन्द्रित विषय-वस्तु नियोजन, सीखने की विविध रणनीतियों और स्कूलों को औपचारिकेतर बनाने के अलग-अलग तरीकों के इस्तेमाल का पूरा मौका देना होगा। असमानता को कम करने के लिए क्षेत्रीय भाषाओं में सीखने के ससाधनों को विकसित करने के विशेष प्रयास करने होंगे। सिर्फ इसी तरीके से पिछड़े वर्गों को तुलनात्मक स्तर की शिक्षा उपलब्ध करायी जा सकती है, जिसके बिना रोज़गार में आरक्षण का फायदा भी वे सार्थक तरीके से नहीं उठा सकते।

## 8. विकेन्द्रित स्कूल प्रबंध

"स्थानीय आंचलिक नियोजन" के लक्ष्यों के अनुरूप, जिसकी चर्चा अन्यत्र की गयी है, स्कूल व्यवस्था का प्रबंध विकेन्द्रित कर देना चाहिए। समूची स्कूली व्यवस्था को संबंधित समुदाय द्वारा प्रबंधित होना चाहिए और उसे उसी समुदाय के प्रति जवाबदेह होना चाहिए। प्रबंध का स्वरूप इस प्रकार का हो जिसके तहत शैक्षिक संस्थाओं का एक संकुल बन सके। इस शिक्षा संकुल में एक स्थानीय कालेज, एक हाई स्कूल या हाईस्कूलों का एक समूह और संबद्ध पूर्व माध्यमिक व प्राथमिक शालाओं का एक झुंड शामिल होंगे। यह शिक्षा संकुल पंचायती राज संस्थाओं तथा साथ ही स्थानीय विकास व सामाजिक कल्याण कार्यों में लगीं सरकारी या स्वयंसेवी संस्थाओं के साथ समन्वित तरीके से काम करेगा। उस इलाके का विश्वविद्यालय इस शिक्षा संकुल से अपने आप को जोड़ सकता है। शिक्षा संकुल के विकास में विश्वविद्यालय अपने शिक्षकों, छात्र-छात्राओं और तकनीकी संसाधनों के जरिए मदद दे सकता है। एक तरफ विश्वविद्यालय तथा ऐसे शिक्षा संकुल और दूसरी तरफ शिक्षा संकुल तथा स्थानीय निकायों के बीच आपसी

समझौते की शर्तें तय होनी चाहिऐं। शिक्षा संकुल सतत आत्म-आकलन व निगरानी की प्रणाली का पालन करेंगे। विश्वविद्यालय, जिला शिक्षा बोर्ड, स्थानीय निकाय स्रोत एजेंसियों * इत्यादि द्वारा मूल्यांकन की समानांतर व्यवस्था साथ-साथ काम करेगी। शिक्षा संकुल को समुचित बौद्धिक संसाधन भी उपलब्ध कराये जायेंगे।

इन शिक्षा संकुलों को पचायती राज व्यवस्था/स्थानीय निकायों के दायरे में लाना दीर्घकालीन उद्देश्य है। शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर उत्तरदायित्वों के हस्तांतरण की तफसील निश्चय ही उस स्थानीय ढांचे पर निर्भर करेगी जिसका निर्माण प्रदेश इस उद्देश्य से करेंगे।

मूल कल्पना यह है कि इन संकुलों में प्रबंध की जिम्मेदारी पेशे से जुड़े लोगों की होगी, अर्थात् शिक्षक समुदाय की। पाठ्यक्रम, विषय-वस्तु व प्रक्रिया, मूल्यांकन, निगरानी, शिक्षक प्रशिक्षण और समाज के विभिन्न तबकों तक शिक्षा को पहुंचाने जैसे विभिन्न पहलू खुद शिक्षक समुदाय की जिम्मेदारी होंगे।

अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह के क्रम में शिक्षक उस समुदाय के साथ आदान-प्रदान का घनिष्ठ रिश्ता कायम करेगा, जिसके लिए वह काम कर रहा है। इस व्यवस्था में निरीक्षक या अधिकारी, जो स्कूल के लिए बाहरी हैं, यह तय नहीं करेंगे कि शिक्षा का स्तर व गुणवत्ता कैसी होनी चाहिए। तदनुसार, शिक्षा का प्रबंध चूंकि सीधे उन लोगों के हाथों में होगा जिनका शिक्षा से रोजमर्रा का सरोकार है, तो उसकी गुणवत्ता में काफी उन्नति होनी चाहिये।

हालांकि शिक्षा संकुलों के संचालन की जिम्मेदारी संयुक्त रूप से संबद्ध समुदाय और उन शिक्षकों की होगी जो व्यवस्था की दृष्टि से भीतरी व्यक्ति हैं, फिर भी उनके लिए कोष का प्रबंध, राज्य सरकारें और अन्य स्थानीय निकाय ही करेंगे, जिनके कार्यक्षेत्र में वे आते हैं। राज्य सरकारें और स्थानीय निकाय यह सुनिश्चित करने के उद्देश्य से कि उनके द्वारा प्रदत्त वित्तीय

---

*उदाहरणतः, राज्य शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण परिषद्, राज्य शिक्षा संस्थान, जिला शिक्षा और प्रशिक्षण संस्थान, इत्यादि।

संसाधनों के परिणामस्वरूप शिक्षण कार्य कारगर तरीके से हो रहा है, वे जिला शिक्षा बोर्डों, प्रखड-स्तरीय और गांव-स्तरीय शिक्षा समितियों के जरिये शिक्षा संकुलों के साथ आदान-प्रदान करेंगे। इन निकायों में शिक्षाविद्, शिक्षक, सामाजिक कार्यकर्ता तथा स्वयसेवी संगठनों, ट्रेड यूनियनों और सरकारी विकास एजेंसियों के प्रतिनिधियों के साथ-साथ वंचित समूहों, जैसे कि अनुसूचित जातियों, अन्य पिछड़े वर्गों एवं महिलाओं के प्रतिनिधि इत्यादि शामिल होंगे।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि इस पूरी व्यवस्था में शिक्षण संस्थाओं के प्रधान, अर्थात् प्रधानाध्यापक/प्रधानाध्यापिका/प्राचार्य, को सही मायने में प्राधिकार प्राप्त होगा, जिसके केन्द्र में शिक्षक होंगे।

स्थानीय लोगों को भी उन सामान्य मापदण्डों के प्रति ज़ागरूक बनाने की ज़रूरत होगी जिससे कि संज्ञानात्मक और भावात्मक दोनों ही क्षेत्रों में स्कूली शिक्षण के नतीजों का वे खुद मूल्याकन कर सकें।

## 9. संसाधन

संवैधानिक निर्देशों को देखते हुए समानता और सामाजिक न्याय के लिए शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के विवेकपूर्ण हस्तक्षेप की जरूरत पड़ेगी। ऐसे हस्तक्षेप की जरूरत इस वजह से होगी क्योंकि जिनको शिक्षा उपलब्ध करानी है उनकी संख्या काफी विशाल है और निस्संदेह उसके लिए काफी बड़ी मात्रा में सार्वजनिक निवेश की ज़रूरत होगी। निस्संदेह पिछले वर्षों में सकल राष्ट्रीय उत्पाद में शिक्षा पर व्यय का प्रतिशत बढ़ता गया है। 1950-51 में यह 1.2% था। 1986-87 में यह 3.9% हो गया। लेकिन वास्तविक ज़रूरत व्यय के वर्तमान स्तर से कहीं ज्यादा है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 6% शिक्षा के लिए निर्धारित किया गया था, लेकिन वास्तविक परिव्यय उससे काफी कम है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, सकल राष्ट्रीय उत्पाद में शिक्षा पर निवेश के प्रतिशत के मामले में भारत का स्थान 115वां है। दस करोड़ या उससे ज्यादा आबादी वाले देशों में बंगलादेश को छोड़कर भारत का स्थान सबसे नीचे है। योजनागत व्यय में शिक्षा का हिस्सा पहली योजना के 7.86% से घट कर सातवीं योजना में 3.55% पर आ गया।

शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में परिव्यय में काफी गभीर असतुलन रहा है। प्राथमिक शिक्षा का हिस्सा पहली योजना के 56% से घट कर सातवी योजना में 29% पर आ गया। उसी अवधि में, विश्वविद्यालयीन और आम शिक्षा पर व्यय 18% से बढ़ कर 44% प्रतिशत हो गया। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि प्रारंभिक शिक्षा पर किए गये व्यय से प्राप्त लाभ की दर उच्च शिक्षा से प्राप्त होने वाली लाभ की दर से कहीं ज्यादा है, यह अवनति काफी गंभीर है। यह बात और ज्यादा साफ हो जाती है, जब हम इस पर गौर करते हैं कि कुछ विश्वविद्यालयीन छात्रवृत्तियां विद्यार्थियों से लिए जाने वाले शुल्क से ज्यादा है। उच्च स्तर पर शिक्षण-शुल्क में चूंकि कई सालो से कोई वृद्धि नही हुई है, इसलिए इसमे बढ़ोतरी का मामला दमदार दिखता है। (शिक्षण-शुल्क, प्रति छात्र लागत से भी काफी कम रहा है)।

शिक्षा पर कुल व्यय में सरकारी हिस्सा 1950-51 के 57.1% से बढ़ कर 1979-80 मे 77.9% हो गया। आतरिक ससाधन जुटाने की प्रक्रिया और स्थानीय निकायों व निजी एजेंसियों के योगदान के हिस्से में भारी कमी आयी है। (1979-80 के बाद के वर्षों के आकड़े उपलब्ध नहीं है)।

शिक्षा के लिए ससाधनों में बढ़ोतरी और उसके वितरण की रणनीतियां यू हो सकती है : सार्वजनिक व्यय मे महत्वपूर्ण बढ़ोत्तरी-सकल राष्ट्रीय उत्पाद का कम-से-कम 6% तक; केन्द्रीय तथा राज्य बजटों में काफी ज्यादा आबंटन; स्थानीय निकायों के जरिये और संबद्ध समुदाय से संसाधन जुटाना; प्राथमिक शिक्षा के लिए आबंटन के अनुपात में बढ़ोत्तरी ; महिलाओं, अनुसूचित जातियों व जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों जैसे विशेष तबकों के लिए प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र में अलग से निर्धारित आबंटन, जिसे दूसरे मद में खर्च नहीं किया जा सकता ; उच्च शिक्षा के शुल्क में बढ़ोत्तरी के लिए समतामूलक फार्मूला, जिसके साथ-साथ कमजोर वर्गों के लिए छात्रवृत्ति और ऋण छात्रवृत्ति की सुविधा उपलब्ध कराना; स्नातकों की सेवाओं के प्रयोक्ताओं पर स्नातक कर लगाना, आदि वैकल्पिक उपाय।

# परिशिष्ट

# राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 की मुख्य बातें

मई, 1986 में संसद द्वारा अनुमोदित राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में यह माना गया है कि 1968 की शिक्षा नीति के बाद विशेष रूप से शिक्षा सुविधाओं में विस्तार हुआ था और शिक्षा का एकरूप ढांचा (10+2+3 प्रणाली) सामान्यतः स्वीकार लिया गया था। परन्तु नीति में यह भी कहा गया कि 1968 की नीति के अधिकाश सझावों को कार्यरूप नही दिया गया, जिसमें वित्तीय समर्थन देना भी शामिल था। इसके कारण शिक्षा की सुलभता, उसका स्तर, मात्रा एव उपयोगिता से संबंधित समस्याएं उत्पन्न हो गई थी। इस संदर्भ में नीति में मानव ससाधन विकास की एक नई पद्धति अपनाने की मांग की गई। शिक्षा को वर्तमान और भविष्य में एक निवेश के रूप में देखा गया जिसे अर्थव्यवस्था हेतु मानवशक्ति विकसित करने के अतिरिक्त आवश्यक मूल्यों की प्राप्ति के लिए साधन बनना था।

इस नीति में एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की मांग की गई। इसका तात्पर्य था कि जाति, सप्रदाय, स्थान अथवा लिंग के आधार पर भेदभाव किये बिना स्तर विशेष तक एक तुलनात्मक गुणवत्ता की शिक्षा सुलभ कराने की व्यवस्था की जाये। इसका यह भी अर्थ था कि 10+2+3 प्रणाली का एकरूप शैक्षिक ढाचा स्थापित हो।

सन् 1976 के संवैधानिक संशोधन के अनुरूप, जिसके द्वारा शिक्षा को समवर्ती सूची के अंतर्गत लाया गया था, इस नीति में संघीय सरकार और राज्यों के बीच सभी प्रमुख प्रशासनिक और वित्तीय आयामो में जिम्मेदारी को एक नये सिरे से बाटने की मांग की गई।

इस नीति में समानता के लिए शिक्षा की कल्पना की गई और उन लोगों की विशिष्ट आवश्यकताओ को पूरा करने की मांग की गई जो शैक्षिक दृष्टि से वंचित रह गये थे, अर्थात् अनुसूचित जातिया व जन-जातिया, अल्पसख्यक, महिलाएं एव विकलांग।

लिखने-पढ़ने की क्षमता पैदा करने के अतिरिक्त प्रौढ़ शिक्षा को गरीबी दूर करने, राष्ट्रीय एकता, पर्यावरण संरक्षण, लोगों की सांस्कृतिक सृजनशीलता को प्रोत्साहित करने, छोटे परिवार का मापदण्ड अपनाने एवम् महिलाओं की समानता को समर्थन देने आदि से जोड़ा जाना था। प्रौढ़ शिक्षा को समूचे राष्ट्र और समाज के सभी वर्गों की जिम्मेदारी के रूप में देखा गया था। कार्यात्मक साक्षरता को प्रौढ़ शिक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू होना था।

प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में, सब बच्चों के नामांकन और उनको स्कूल में बनाये रखने के अतिरिक्त, शिक्षा की गुणवत्ता में भी उल्लेखनीय सुधार की कल्पना की गई थी। ऐसी शिक्षा को बाल-केन्द्रितऔर गतिविधि-आधारित होना था। पहली पीढ़ी के विद्यार्थियों को अपनी गति से सीखने की छूट होनी थी जिसके लिए कमज़ोर बच्चों की मदद हेतु विशेष शिक्षण की व्यवस्था करनी थी। संज्ञानात्मक (कागनिटिव) अध्ययन को बढ़ाया जाना था और अभ्यास के जरिये कुशलताओं का विकास किया जाना था। बच्चों के काम के मूल्यांकन का विविधीकरण यथासंभव उनकी अलग-अलग स्थितियो के अनुसार विकसित किया जाना था।

स्कूल के बाहर छूट गये बच्चो के लिए औपचारिकेतर (नॉन-फार्मल) शिक्षा कार्यक्रम की व्यवस्था को बेहतर बनाना था। इस काम में आधुनिक तकनीक पर आधारित सहायक शैक्षिक सामग्री का उपयोग होना था। अनुदेशकों का चयन स्थानीय समुदायो मे से करना था। औपचारिकेतर पद्धति से शिक्षित बच्चों के लिए औपचारिक शिक्षा में प्रवेश पाना सुलभ कराना था यद्यपि पाठ्यक्रम को राष्ट्रीय कोर पाठ्यक्रम की रूपरेखा के अनुसार ढालना था, इसमे विद्यार्थियो के स्थानीय पर्यावरण का हवाला भी होना चाहिए था। औपचारिकेतर शिक्षा को मुख्यतः स्वैच्छिक एवं पचायती राज संस्थाओं का काम बनाना था। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 का यह संकल्प था कि सन् 1990 तक जो बच्चे 11 वर्ष के हो जायेंगे, उन्हें 5 वर्ष की स्कूली शिक्षा या औपचारिकेतर धारा मे इसके समकक्ष शिक्षा, अवश्य दिला दी जायेगी। इसी प्रकार, 1995 तक 14 वर्ष की आयु वाले सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान कर दिया जायेगा।

माध्यमिक शिक्षा के बारे में मुख्य जोर उसे स्थायित्व प्रदान करने और मजबूत बनाने पर होना चाहिए और साथ ही साथ उन इलाकों तक पहुंचना भी जरूरी था जो इसके दायरे के बाहर रह गये। विशेष प्रतिभा वाले बच्चों को तेजी से आगे बढ़ने के लिये अवसर दिये जाने थे और इस हेतु अलग से गति-निर्धारक स्कूल स्थापित किये जाने थे। व्यावसायिक शिक्षा से लोगों को रोजगार पाने योग्य बनाना था। यह एक अलग विशिष्ट धारा भी होनी थी। इससे दक्ष मानवशक्ति की माग एवं आपूर्ति के बीच जो असंतुलन है उसे दूर करने में सहायता मिलती। आम तौर पर इसके लिये प्रावधान 10वीं कक्षा के बाद किया जाना था परन्तु यह व्यवस्था लोचदार भी हो सकती थी और कक्षा 8 के बाद भी उपलब्ध की जा सकती थी। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जिम्मेदारी शासन और निजी व सार्वजनिक क्षेत्र दोनों की ही होनी चाहिए। व्यावसायिक शिक्षा-प्राप्त स्नातकों का आगे उच्च शिक्षा में जाना सुलभ कराने की दृष्टि से सेतु पाठ्यक्रमों का प्रावधान होना था। इसके लिये स्कूल के बाहर व्यावसायिक शिक्षण की औपचारिकेतर व्यवस्था करनी थी। उच्च शिक्षा के स्तर पर भी व्यावसायिक पाठ्यक्रम उपलब्ध कराने थे। लक्ष्य यह था कि सन् 1990 तक उच्चतर माध्यमिक स्तर के 10 प्रतिशत और सन् 1995 तक 25 प्रतिशत विद्यार्थियों को व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाये।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में मौजूदा संस्थाओं में उपलब्ध सुविधाओं को स्थायित्व प्रदान करने और उनका प्रसार करने पर जोर दिया गया था। उच्च शिक्षा में सुधार हेतु निम्नलिखित रणनीतियों का प्रस्ताव था—स्वायत्त कालेजों का विकास ; पाठ्यक्रमों एवं कार्यक्रमों का पुनर्गठन ; संयोजित कार्य प्रणाली हेतु राज्य-स्तरीय उच्च शिक्षा परिषदों की स्थापना ; शिक्षण पद्धतियों में परिवर्तन ; शोध कार्य के लिए सहायता में वृद्धि ; सामान्य, कृषि, मेडिकल, तकनीकी एवं अन्य व्यावसायिक विषयों की शिक्षा में पारस्परिक संयोजन की दृष्टि से राष्ट्रीय उच्च शिक्षा परिषद् की स्थापना ; शिक्षा को लोकतंत्रीय बनाने के लिए खुला विश्वविद्यालय प्रणाली का एक साधन के रूप में उपयोग करना ; व्यवसाय-उन्मुख पाठ्यक्रमों को छोड़कर अन्य विषयों में उपाधियों का नौकरियों से संबंध-विच्छेद करना ; एवं ग्रामीण क्षेत्रों में परिवर्तन के उद्देश्य से ग्रामीण विश्वविद्यालयों का एक साधन के रूप में विकास करना।

अगली शताब्दी के मोड़ पर पूर्वानुमानित परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए तकनीकी और प्रबंधकीय शिक्षा को अद्यनातन बनाया जाना था। शिक्षण कार्यक्रमों को लोचदार प्रमापी (मॉड्यूलर) पद्धति पर बनाया जाना था जिसमें इकाई-संचयन (क्रेडिट एक्यूमुलेशन) और बहु-लक्ष्यीय प्रवेश का प्रावधान करना था। स्व-रोजगार के लिए विभिन्न पेशों को प्रोत्साहित करने हेतु उद्यम की प्रवृत्ति में प्रशिक्षण उपलब्ध किया जाना था। सामुदायिक पॉलिटेक्निकों की व्यवस्था के माध्यम से समुदाय की सेवा के लिए पॉलिटेक्निकों को लगाना था। जिन उद्योग-धंधों के साथ तकनीकी शिक्षा का संबंध है, उनके साथ ऐसी शिक्षा की संस्थाओं का तालमेल बैठाना था। तकनीकी शिक्षा में स्तर और गुणवत्ता बनाए रखने के लिए अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् (ए.आई.सी.टी.ई.) को सांविधिक प्राधिकार दिया जाना था। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के व्यापारीकरण पर प्रतिबंध लगाना था।

यह सुनिश्चित करने के लिये कि शिक्षा तंत्र कारगर हो और शिक्षक पढ़ायें व विद्यार्थी पढ़ें, इस नीति में निम्नांकित रणनीतियो की कल्पना की गई— शिक्षकों के प्रति बेहतर रुख अपनाया जाये जिसके साथ उनकी जवाबदेही भी बढ़े, विद्यार्थी सेवाओं की बेहतर व्यवस्था हो, संस्थाओं को दी जाने वाली सुविधाओं में सुधार हो और उनके काम के आकलन हेतु एक प्रणाली बनाई जाए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 के अनुसार विषयवस्तु एवं शिक्षण प्रक्रिया का भी पुनर्गठन किया जाना था। पाठ्यक्रमों में सांस्कृतिक विषयवस्तु जोड़कर उन्हें समृद्ध करना था ; मूल्य-शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना था; सभी क्षेत्रों में जनसंचार एवं शैक्षिक तकनीकी का उपयोग होना था ; सभी स्तरों पर कार्यानुभव को शिक्षण का अभिन्न अंग बनाया जाना था; पर्यावरण चेतना को प्रोत्साहित करना था ; जिज्ञासा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिये विज्ञान और गणित के शिक्षण को आगे बढ़ाना था; शास्त्रीय एवं गैर-शास्त्रीय गुणों का मूल्यांकन करने के लिये वर्तमान परीक्षा प्रणाली को अनवरत समग्र आंतरिक मूल्यांकन प्रणाली के रूप में ढाला जाना था; एवं भाषाओं का विकास 1968 की नीति के अनुसार होना था।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में शिक्षकों और उनकी भूमिका को शिक्षा तंत्र में मूलभूत एवं अति महत्वपूर्ण माना गया। शिक्षकों की भर्ती उनकी योग्यता पर आधारित होनी थी। शिक्षकों को पदस्थ और स्थानांतरित करने की प्रक्रिया को वस्तुनिष्ठ बनाना जरूरी था। शिक्षकों का मूल्यांकन सहभागिता एवं आंकड़ों के आधार पर होना था। उनके वेतन और सेवा शर्तों को उनके सामाजिक व व्यावसायिक दायित्वों के अनुरूप ढालना था। इस मामले में यह वांछनीय माना गया कि देश भर में एकरूपता हो। राष्ट्रीय स्तर के शिक्षक संगठनों को अपनी नीति-संहिता स्वयं तैयार करनी थी और उस पर अमल भी करवाना था। शिक्षक प्रशिक्षण प्रणाली में आमूल परिवर्तन की जरूरत मानी गई थी। निम्न-स्तरीय शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं को समाप्त किया जाना था। शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं को मान्यता प्रदान करने एवं पाठ्यक्रम और पद्धतियों के संबंध में मार्गदर्शन देने के लिए राष्ट्रीय शिक्षक प्रशिक्षण परिषद् की स्थापना की जानी थी।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू शिक्षा के नियोजन एवं प्रबंध में आमूल परिवर्तन की मांग से संबंधित था। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड को शैक्षिक विकास की समीक्षा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी। राज्यों में भी केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के नमूने पर राज्य शिक्षा सलाहकार बोर्ड गठित किए जाने थे। उच्चतर माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा का प्रबंध करने के लिए जिला शिक्षा बोर्डों की स्थापना की जानी थी। शाला संकुलों को एक लोचदार ढांचे के अनुसार विकसित किया जाना था। कालान्तर में इन शाला संकुलों के द्वारा अधिकांश निरीक्षण कार्य को अपने हाथों में ले लेने की कल्पना थी। स्कूली सुधार कार्यक्रमों में स्थानीय समुदायों को शामिल किया जाना था। भारतीय शिक्षा सेवा के गठन के मामले पर राज्यों के साथ विचार-विमर्श होना था।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 में शिक्षा को राष्ट्रीय विकास और अस्तित्व की दृष्टि से निवेश का अति महत्वपूर्ण क्षेत्र माना गया था। इसमें सातवीं योजना में शिक्षा पर परिव्यय नीति-कार्यान्वयन की जरूरतों के अनुसार बढ़ाने की बात कही गई थी। इसमें आठवीं पंचवर्षीय योजना से शुरू करके शिक्षा पर परिव्यय को राष्ट्रीय आय के 6 प्रतिशत से सर्वदा अधिक बढ़ा देने का प्रस्ताव दिया गया था। इसके लिये यह माना गया था कि

जो लोग शिक्षा से लाभान्वित होते हैं उनसे इसके लिये साधधनधन जुट
चाहिये, विशेषकर उच्च शिक्षा के स्तर पर लाभान्वित लोगों से से। इ
अतिरिक्त शिक्षा के खर्च मे आतरिक किफायतों पर भी विचार कि किया ग
था। यह स्वीकारा गया था कि इस प्रकार के साधनों से कुल वि वित्तपो
का अंशमात्र ही जुटाया जा सकता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 ने भविष्य के लिये जो प्रमुख कार्यर्म निर्धा
किया, वह था शिक्षा के पिरामिड के आधार को सुदृढ बनाना. अ और स
ही में यह सुनिश्चित करना कि जो लोग पिरामिड के शिखर प पर हैं
विश्व के सर्वोत्तम लोगो मे गिने जाये।

# राष्ट्रीय शिक्षा नीति समीक्षा समिति के अध्यक्ष और सदस्यों के नाम व पते

| | | |
|---|---|---|
| 1. | आचार्य राममूर्ति,<br>पो. खादीग्राम<br>जिला मुंगेर,<br>बिहार-811313 | अध्यक्ष |
| 2. | डा. सी.एन.आर.राव,<br>निदेशक,<br>भारतीय विज्ञान संस्थान,<br>बगलूर-560001 | सदस्य |
| | डा. सुखदेव सिंह,<br>51, सैक्टर 11-ए,<br>चंडीगढ़-160001 | -वही- |
| 4. | डा. एम. सान्तप्पा,<br>वैज्ञानिक सलाहकार,<br>तमिलनाडु प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड,<br>25. डा. राधाकृष्णन सलाय.,<br>मद्रास-600004 | -वही- |
| 5. | डा. ओबेद सिद्दीकी,<br>मॉलीक्यूलर बायलॉजी यूनिट,<br>टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेटल रिसर्च,<br>होमी भाभा रोड,<br>बम्बई-400005 | -वही- |

| | | |
|---|---|---|
| 6. | डा. भास्कर राय चौधरी,<br>कुलपति, कलकत्ता विश्वविद्यालय,<br>कलकत्ता-700001 | सदस |
| 7. | डा. एम.जी. भाटावडेकर,<br>41, संग्राम कालोनी,<br>जयपुर-302001 | -व |
| 8. | प्रो. उषा मेहता,<br>मणि भवन, गांधी संग्रहालय,<br>19, लेबरनम रोड,<br>गामदेवी, बम्बई-400007 | -वही |
| 9. | प्रो. के. सच्चिदानंद मूर्ति,<br>'अपराजिता'<br>संगम जगरलामुदी,<br>जिला गुंटूर,<br>आंध्र प्रदेश-522213 | -वही |
| 10. | प्रो. मृणाल मिरी,<br>दर्शन विभाग,<br>नार्थ-ईस्टर्न हिल यूनिवर्सिटी,<br>शिलांग,<br>मेघालय-793003 | -वही |
| 11. | श्री वेद व्यास,<br>64, गोल्फ लिंक्स,<br>नई दिल्ली-110003 | -वही- |
| 12. | डा. विद्या निवास मिश्र,<br>कुलपति,<br>सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय,<br>वाराणसी-221002 | -वही- |

13. डा. एस.ज़ेड. कासिम, सदस्य
कुलपति,
जामिया मिलिया इस्लामिया,
जामिया नगर,
नई दिल्ली-110025

14. फादर टी.वी. कुन्नकल, -वही-
अध्यक्ष,
नेशनल ओपन स्कूल,
39, कम्युनिटी सेंटर,
वजीरपुर इंडस्ट्रियल एरिया,
रिंग रोड, अशोक विहार मोड़,
दिल्ली-110052

15. डा. अनिल सदगोपाल, वही-
किशोर भारती,
पो. बनखेड़ी,
जिला होशगाबाद,
मध्य प्रदेश-461990

16. श्री मनुभाई पंचोली, -वही-
लोक भारती, सनोसरा,
जिला भावनगर,
गुजरात-364230

NIEPA DC
D05420

17. श्री एस. गोपालन, सदस्य सचिव
अपर सचिव, शिक्षा विभाग,
मानव संसाधन विकास मंत्रालय,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली-110001

National Institute of Educational
Planning and Administration
17-B, Sri Aurobindo Marg, New Delhi-110016
DOC. No. 49 D 5420
Date 14/8/96